सम्प्रदायों के नाम हैं जो पुनर्जन्म को मानते थे)। टर्टूलियन और जस्टीनस का कहना है कि यहूदी लोग भी किसी अंश तक इस सिद्धान्त को मानते थे। 'टालमड' पुस्तक (यह यहूदियों का प्राचीन धर्मग्रन्थ है) में लिखा है कि आबील का आत्मा सेठ के शरीर में गया और फिर मूसा के शरीर में। मैथ्यू इंजील के १६वें अध्याय की १३ से १५ तक की आयतों का बुद्धिपूर्वक अर्थ तभी लगाया जा सकता है जब पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान लिया जाय।"

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने में सबसे बड़ी आपत्ति तो स्मृति का अभाव है। लोग पूछते हैं कि यदि हम पिछली किसी योनि से आये हैं तो याद क्यों नहीं? प्रथम तो याद का अभाव क्यों? दूसरे विस्मृत अर्थात् भूल जाने की उपयुक्तता क्या?

यह आपत्ति इतनी भयंकर नहीं है जितनी समझी जाती है। पहली बात तो यह है कि स्मृति का भाव अवश्य ही अस्तित्व के भाव का सूचक है, परन्तु स्मृति का अभाव अस्तित्व के अभाव का सूचक नहीं। किसी वस्तु के ज्ञान का भाव उसके अस्तित्व को सिद्ध करता है, परन्तु ज्ञान का अभाव उस वस्तु के अभाव को सिद्ध नहीं करता।

मैं रामदत्त को जानता हूँ।

इसलिए रामदत्त है।

यह युक्ति ठीक है, क्योंकि यदि रामदत्त न होता तो मैं उसे कैसे जानता?

परन्तु,

मैं रामदत्त को नहीं जानता।

इसलिए रामदत्त है ही नहीं।

यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि बहुत-सी वस्तुएँ हैं परन्तु मैं उनको नहीं जानता। बहुत-सी बातें हैं जिनकी मुझको कुछ याद नहीं, परन्तु उनसे मेरा सम्बन्ध था, मुझे उनका ज्ञान था। भूल और विस्मृति शब्द बने ही उन बातों के लिए हैं जो पहले याद थीं, अब नहीं। मैं भूल गया' का क्या अर्थ है? यही न कि पहले मुझे

अमुक वस्तु का ज्ञान था, अब नहीं रहा। इसलिए विस्मृति भी एक प्रकार से अस्तित्व ही सिद्ध करती है, नास्तित्व नहीं। मनुष्य भूलता भी उसी चीज़ को है जो पहले उसे याद हो। इसलिए स्मृति का अभाव कभी किसी के अभाव का हेतु नहीं।

शायद आप कहें कि स्मृति का अर्थ यहाँ ज्ञान से है, अर्थात् जब हम कहते हैं कि पिछले जन्म की हमको याद नहीं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि पिछले जन्म का हमको ज्ञान नहीं। इस विषय में हम बता चुके हैं कि हमारा अज्ञान हमारी किसी पिछली अवस्था या किसी अन्य वस्तु की किसी अवस्था के अभाव का हेतु नहीं। यदि उन्हीं वस्तुओं का अस्तित्व होता जो हमारे ज्ञान में हैं तो ज्ञान की वृद्धि का तात्पर्य वस्तुओं की वृद्धि होता और भिन्न-भिन्न पुरुषों के अनुसार भिन्न-भिन्न संसार होते, तथा कभी हम यह न कह सकते कि अभी हमको अमुक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना शेष है। जब हम कहते हैं कि 'अफ्रीका के बहुत-से प्रदेश अभी जानने को शेष हैं, तो इसका यही तात्पर्य है कि प्रदेशों का अस्तित्व तो है, परन्तु हमको उसका ज्ञान नहीं। जीवन की पिछली सहस्रों घटनाओं का हमको या तो ज्ञान न था या नहीं रहा। फिर भी हम मानते हैं कि वे घटनाएँ हुईं अवश्य। उदाहरण के लिए यदि पूछा जाय कि दो वर्ष पूर्व अमुक दिन आपके पेट ने खाना पचाने का काम किया था या नहीं ? तो आप इसका क्या उत्तर देंगे ? यही कि अवश्य। परन्तु क्या उस समय आपको इसका ज्ञान था और क्या इस समय आपको इसका ज्ञान है ?

शायद आप कहें कि यदि किसी वस्तु के ज्ञान का अभाव उसके अभाव का सूचक नहीं तो क्या उसके ज्ञान का अभाव उसके भाव का सूचक है ? अर्थात् यदि हमको किसी पुरुष या वस्तु का ज्ञान नहीं तो हम उसके अस्तित्व को मान ही क्यों लें ? क्योंकि ज्ञान का अभाव दोनों दशाओं में हो सकता है, अर्थात् जब वस्तु न हो, और जब वस्तु हो।

हमारा तात्पर्य यह नहीं कि बिना प्रमाण के ही पिछले या

अगले जन्म को मान लो। हमारा तात्पर्य यह है कि स्मृति के न होने का पचड़ा क्यों लगाते हो ? जब ज्ञान का अभाव, अस्तित्व के भाव और अभाव दोनों का सूचक हो सकता है, जब अस्तित्व के भाव में भी ज्ञान का अभाव सम्भव है तो ज्ञान के अभाव को वस्तु के अभाव का हेतु क्यों माना जाय और विस्मृति की आपत्ति क्यों खड़ी की जाय ? पिछले और अगले जन्म के अस्तित्व के अन्य प्रमाण तो पुष्कल हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि विस्मृति की उपयोगिता क्या ? हम जीवन की प्रयोजनवत्ता का उल्लेख करते समय बता चुके हैं कि हमारी कोई वृत्ति भी प्रयोजन-शून्य नहीं है। फिर विस्मृति ही क्यों हो ? यदि विस्मृति का कुछ भी प्रयोजन न होता तो फिर विस्मृति होती ही क्यों ? मनोविज्ञानवेत्ता जानते हैं कि यदि विस्मृति न हो तो ज्ञान की वृद्धि भी न हो। यदि कोई ज्ञान हमको उतना ही स्पष्ट रहे जितना प्राप्ति के समय होता तो दूसरा ज्ञान कभी प्राप्त भी न हो सके, क्योंकि एक ही समय में दो ज्ञान नहीं हो सकते। कितनी वस्तुएँ हैं जिनके भूलने में ही हमारा कल्याण है। जब किसी माता का पुत्र मर जाता है तो माँ विह्वल हो जाती है, परन्तु शीघ्र ही विस्मृति शोक को कम करने लगती है। दो-चार या दस वर्ष के पीछे न पुत्र की आकृति याद रहती है न उसकी बातचीत, कुछ थोड़ा-सा धुँधला भान रह जाता है, वह भी हर समय नहीं। यदि कहीं हमको प्रत्येक संस्कार का उतना ही ज्ञान सदा रहता तो हमारा जीवन कठिन हो जाता और हम कोई काम न कर सकते। इसी प्रकार यदि हमको पिछले जन्मों की पूरी याद रहती तो हमको अपने पुराने मित्रों की मित्रता और पुराने शत्रुओं की शत्रुता सदा क्लेश दिया करती और हम कोई काम करने में सफल न होते।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि जब हम किसी बच्चे की अवस्था का निरीक्षण करते हैं तो पता चलता है कि वह अवस्था अभी वर्तमान में ही कहीं से नहीं कूद पड़ी, उसका

पिछला इतिहास है। हमारे हर वर्तमान में भूत का इतिहास छिपा हुआ है और उसमें भविष्य के लिए बीज उपस्थित है। वर्तमान का क्या है? भूत और भविष्यत् का मिलाप! बच्चे की प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार उसके पिछले जीवन का इतिहास बताती हैं, जिस प्रकार किसी मद्यपान की प्रवृत्ति रखनेवाले को देखकर उसके पिछले इतिहास का पता लगता है। न्यायदर्शन में इस विषय का एक उदाहरण दिया है—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्॥

(न्यायदर्शन ३।१।२२)

इसपर वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हैं—

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते। स च नान्तरेणहाराभ्यासम्। कया युक्त्या? दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधापीड्यमनानामाहाराभ्यासकृतात्स्मरणानुबन्धादाहाराभिलाषः। न च पूर्वशरीराभ्यासमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते। तेनानुमीयते भूतपूर्वशरीरं, यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति। स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात् प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमाहारमनुस्मरन् स्तन्यमभिलषति। तस्मान्न देहाभेदादात्मा भिद्यते भवत्येवोर्द्ध देहभेदादिति।

अर्थात्—प्रत्येक बच्चा जन्मते समय ही भोजन माँगता है। यह भोजन की अभिलाषा विना पूर्वजन्म के भोजन के अभ्यास के नहीं हो सकती। इससे प्रतीत होता है कि वह पहले जन्म में भोजन करता रहा। उसी की स्मृति अब भी भोजन करने के लिए प्रेरणा करती है।

बच्चा जब माता के स्तन की अभिलाषा करता है तो वह यह नहीं सोचता कि यदि मैं नहीं खाऊँगा तो शरीर निर्बल हो जाएगा। उसकी भीतर से प्रवृत्ति इस प्रकार की बन गई है कि उसे भोजन की इच्छा होती है। वह प्रवृत्ति कैसे बनी? अवश्य ही पूर्व में कुछ अभ्यास किया होगा।

ड्रमण्ड की पुस्तक से बच्चे की लटकने की प्रवृत्ति के उदाहरण

हम दे चुके हैं। ऐसी ही अनेक प्रवृत्तियाँ बच्चों में पाई जाती हैं। फिर भिन्न-भिन्न बच्चों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ विकास के भिन्न-भिन्न तलों पर मिलती हैं। कुछ बच्चे आरम्भ से ही शान्तिप्रिय, कुछ लड़ाकू, कुछ बुद्धिमान्, कुछ बुद्धिहीन, कुछ गणित के प्रेमी, कुछ संगीत-प्रवीण पाए जाते हैं। यह क्यों होता है ? इसका अन्य कोई मुख्य कारण नहीं, सिवाय इसके कि उन्होंने पूर्वजन्म में एक विशेष प्रवृत्ति का विशेष परिमाण में विकास कर लिया। अब उसके आगे उन्नति करनी है। प्राय: ये प्रवृत्तियाँ सुप्त-सी रहती हैं और थोड़े-से ही संकेत से जाग्रत् हो जाती हैं। मास्टर मदन जैसे कई बच्चे चार-पाँच वर्ष की अवस्था में संगीत के बड़े भारी पंडित सिद्ध हुए। रामानुजम् महाशय बिना सीखे हुए गणित में ऐसे प्रवीण थे कि बड़े-बड़े गणितज्ञ दाँतों में उँगली दबा लेते थे। यह गणित या संगीत का ज्ञान उन्होंने इस जन्म में प्राप्त नहीं किया, पिछले जन्म से ही आया होगा; आरम्भ में यह ज्ञान सुप्त-सा था, किसी अवसर पर जाग्रत् हो गया।

□

अध्याय २२

पशु और जीव

चार्ल्स ब्रैडला लिखता है--

"The Orthodox contend that what they call the elementary substances taken separately, do not think, therefore, man without a soul cannot think; and that as man does think, he must have a soul. This argument if valid at all, goes much too far; a trout thinks, a carp thinks, a rat thinks, a dog thinks, a horse thinks, and by parity of reasoning, all these animals should have immortal souls."

(**Has man a Soul**, by C. Bradlaugh, p. 5)

"धार्मिक लोग कहते हैं कि जिन तत्त्वों से शरीर बना है वे अलग-अलग सोच नहीं सकते। इसीलिए मनुष्य भी बिना जीवात्मा के सोच नहीं सकता। चूंकि मनुष्य सोच नहीं सकता, इसलिए उसमें जीव है। यदि यह युक्ति ठीक है तो इसे आगे भी बढ़ना चाहिये। ट्रौट मछली सोच सकती है, कार्प मछली सोच सकती है, चूहा सोच सकता है, कुत्ता सोच सकता है, घोड़ा सोच सकता है। इस युक्ति के अनुसार तो उन पशुओं में भी अमर जीवात्मा होना चाहिये।"

ब्रैडला का तात्पर्य यह है कि यदि ईसाई लोग केवल विचार-शक्ति की विद्यमानता के कारण मनुष्य में अमर जीवात्मा मानते हैं तो पशुओं में भी जीव मानना चाहिये। ईसाई लोग पशु में जीव नहीं मानते।

ब्रैडला के इस आक्षेप में सत्यता है। हम गत अध्यायों में बता चुके हैं कि विचारशक्ति केवल भौतिक पदार्थों के संयोग से

उत्पन्न नहीं हो सकती, इसके लिए चेतन जीवात्मा होना चाहिये।

इसी युक्ति के अनुसार पशुओं में भी जीवात्मा है क्योंकि पशुओं में विचारशक्ति है। भारतवर्षीय लोग सदा से पशुओं में जीवात्मा मानते रहे हैं। इसलिए उनपर असंगति का दोष नहीं लगाया जा सकता। ब्रैडला का आक्षेप केवल ईसाई मुसलमानों तक ही सीमित है।

हमने गत अध्यायों में जो मनोवैज्ञानिक या अन्य युक्तियाँ जीव की सिद्धि में दी हैं, वे सब पशुओं पर घटती हैं। हमने जीवात्मा का लक्षण करते हुए लिखा था कि जीव एक ऐसा अणु है जिसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाया जाय। पशुओं में भी ये तीनों लक्षण पाये जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि उनमें भी जीव है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व से तो कोई इन्कार कर ही नहीं सकता। कुत्ते को मारो तो उसके पीड़ा होती है, वह चिल्लाता है। उसे प्यार करो तो जिस प्रकार मनुष्य हर्ष प्रकट करता है कुत्ता भी हर्ष प्रकट करता है। कुत्ता मालिक का काम करने के लिए सदा कटिबद्ध रहता है। रात को आप उसके घर की ओर से होकर निकल जाइये, वह देखकर भौंक उठेगा। इस भौंकने में भय, आशंका, स्वामी को जगाने की इच्छा और प्रयत्न सभी शामिल हैं। न्यायदर्शन के इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और प्रयत्न; वैशेषिक के प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न; वेदान्त के कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, ये सब न केवल कुत्ते-बिल्ली और और हाथी-घोड़े में ही, अपितु चींटी-चींटे, कीट-पतंग आदि में भी पाये जाते हैं। सामान्य ज्ञान, जिसका लक्षण है करना, न करना और उलटा करना, भी सभी प्राणियों में मिलता है। अब प्रश्न केवल विशेष ज्ञान का है। कुछ लोग कहते हैं कि पशुओं में प्रवृत्तियाँ (Instincts) और परावर्तित क्रियाएँ (Reflexactions) तो पाई जाती हैं, परन्तु तर्कशक्ति (Reasoning) नहीं होती। उनका

कहना है कि प्रवृत्तियाँ और परावर्तित क्रियाएँ ज्ञान के लक्षण नहीं हैं। ज्ञान केवल तर्कशक्ति से ही सम्बन्ध रखता है। पशुओं की प्रवृत्तियाँ उनकी मानसिक चेतना की सूचक नहीं हैं, न उनमें मस्तिष्क होता है, अर्थात् जो-कुछ काम पशु करता है वह सोच-विचारकर नहीं करता। उसके शरीर की बनावट ही ऐसी है कि वह अन्यथा कर ही नहीं सकता, इसलिए पशुओं में जीवात्मा नहीं माना जा सकता।

ये युक्तियाँ उन लोगों की हैं जो अपने धार्मिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर केवल मनुष्य में ही जीवात्मा मानते हैं ; जैसे ईसाई और मुसलमान। ब्रैडला का आक्षेप इन्हीं लोगों पर है। परन्तु याद रखना चाहिये कि एक समय ऐसा भी था जब ईसाइयों का एक सम्प्रदाय स्त्रियों में भी जीवन नहीं मानता था। उनका कहना था कि ईश्वर ने आदम के शरीर में तो अपनी रूह फूँकी थी, परन्तु हव्वा का शरीर आदम की पसली से बनाया था और उसमें रूह फूँकने का कोई उल्लेख बाइबल में नहीं आया, इसलिये वे स्त्रियों को जीवात्मा से युक्त नहीं समझते थे। इनको जाने दीजिये, क्योंकि आजकल कोई ऐसे लोगों की बात सुनने को तैयार नहीं है।

रहे भौतिकवादी, तो उनका कहना है कि जिस प्रकार पशुओं के जीवन तथा कामों की व्याख्या उनकी प्रवृत्तियों और परावर्तित क्रियाओं के आधार पर हो सकती है और उनमें जीवात्मा मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार मनुष्यों के जीवन की व्याख्या भी क्यों न की जाय और जीवात्मा के झमेले में क्यों पड़ा जाय? इस पुस्तक में अबतक हमने यही सिद्ध करने का यत्न किया है कि बिना जीवात्मा के मानवी व्याख्या नहीं हो सकती। इस आधार पर तो यही मानना पड़ेगा कि पशुओं के व्यापारों की व्याख्या भी बिना जीवात्मा के न हो सकेगी।

यहाँ हमको उनसे विवाद नहीं जो मनुष्यों में भी जीवात्मा नहीं मानते। इनसे जो कुछ विवाद था उसका उल्लेख हो चुका।

उनसे भी विवाद नहीं जो मनुष्यों तथा पशुओं सभी में जीवात्मा मानते हैं क्योंकि उनसे हमारा मतभेद नहीं। इस अध्याय में हम उनसे मतभेद प्रकट करना चाहते हैं जो मनुष्यों में तो जीवात्मा मानते हैं, परन्तु पशुओं में नहीं।

जहाँ तक शारीरिक क्रियाओं का सम्बन्ध है अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि, इनमें तो मनुष्य और पशु समान ही हैं। ये सब लक्षण चेतना के हैं। हम यहाँ विशेषकर प्रवृत्तियों और तर्कशक्ति का भेद देखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में इतने प्रश्न हो सकते हैं—

(१) क्या प्रवृत्तियाँ चेतना-शून्य होती हैं ?

(२) क्या प्रवृत्तियों की व्याख्या भौतिक आधार पर हो सकती है ?

(३) प्रवृत्तियों और तर्कशक्ति में कितना भेद है ? क्या पशुओं की प्रवृत्तियों में तर्कशक्ति का कोई अंश रहता है या नहीं ?

आइये, पहले तो यह मालूम करें कि प्रवृत्ति (Instinct) का क्या अर्थ है ?

डार्विन का कहना है कि—

"An action, which we ourselves should require experience to enable us to perform when performed by an animal, more especially by a very young one, without any experience and when performed by many individuals in the same way, without their knowing for what purpose it is performed, is usually said to be instinctive."

(**Origin of Species,** by Darwin, chap. VII)

अर्थात्—"प्राय: उस कार्य का नाम प्रवृत्ति है जिसे यदि हम करते तो अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् करते और जब कोई और, विशेषकर पशु का छोटा बच्चा करता तो बिना अनुभव के ही करता और उस जाति के बहुत-से व्यक्ति भी इसी प्रकार करते और यह नहीं जानते कि हम किसी प्रयोजन के लिए ऐसा

कर रहे हैं।"

तात्पर्य यह है कि बया का बच्चा घोंसला बनाता है तो बिना सीखे बनाता है; मनुष्य मकान बनाता है तो सीखकर बनाता है। इसलिए बया का घोंसला बनाना उसकी प्रवृत्ति (Instinct) है और हमारा मकान बनाना ज्ञान-युक्त कर्म है। हम जानते हैं कि घोंसले से क्या लाभ होगा। उसकी आन्तरिक ज्ञान-शून्य प्रेरणा हुई और उसने घोंसला बना डाला।

प्रवृत्ति की यह व्याख्या करने में डार्विन ने एक बात को स्पष्ट नहीं किया, अर्थात् क्या मनुष्य में भी ऐसी ज्ञान-शून्य, तथा तर्क-शून्य प्रवृत्तियाँ नहीं पाई जातीं? पशुओं के प्रत्येक कार्य को निष्प्रयोजन और ज्ञान-शून्य कह बैठना भी कुछ आसान काम नहीं है। आजकल पशु-शास्त्र एक विशद शास्त्र हो गया है और विकासवाद ने तो एक प्रकार से हमारा दृष्टिकोण ही पशुओं के विषय में बदल दिया है। यद्यपि सब लोग मानने को तैयार नहीं हैं कि मनुष्य-जाति के पूर्वज पशु-जातियाँ ही थीं, परन्तु यह तो अवश्य ही मानना पड़ता है कि पशु हमारे भाई-बन्धु अवश्य हैं। उनमें भी हमारी-सी जान है। उनके और हमारे व्यवहारों में उतना ही भेद है जितना एक असभ्य जाति के सबसे निर्बुद्धि मनुष्य और हक्सले, काण्ट आदि जातियों में है। प्रत्येक मनुष्य को पशुओं की बुद्धिमत्ता की कहानियाँ मालूम होंगी। भिन्न-भिन्न देश के कवियों ने पशुओं की बुद्धि की प्रशंसा में काव्य लिखे हैं। भारत-वर्ष में तोतों की कहानियाँ प्रचलित हैं। बाण की कादम्बरी 'तोते' से ही आरम्भ होती है। अंग्रेज़ी के कवि कूपर (Cowper) ने कुत्ते की बुद्धिमत्ता पर एक छोटा-सा पद्य लिखा है। परन्तु इन कहानियों को छोड़िये। डार्विन ने बीगिल की यात्रा (Voyage of the Beagle) में एक केंकड़े और नारियल की कहानी लिखी है—

"The crab begins by tearing the husk fibre by fibre, and always from that end under which the three eye-holes are situated; when this is completed, the crab commences

hammering with its heavy claws on one of the eye-holes till an opening is made."

अर्थात्—"केकड़ा नारियल को ले लेता है और उसके छिलके अलग करता है, और सदा उसी सिरे पर जहाँ भीतर तीन छिद्र-चिह्न होते हैं। जब छिलका उतार चुकता है तो अपने भारी पंजों से एक छिद्र-चिह्न को खटखटाता है और उसमें एक सूराख कर लेता है।"

डार्विन महोदय लिखते हैं—

"I think this is as curious a case of instinct as ever I heard of, and likewise of adaptation in structure between two objects apparently so remote as a crab and a coconut tree."

अर्थात्—"प्रवृत्ति का यह एक सबसे विचित्र उदाहरण मेरे सामने आया है और इस बात का भी कि केकड़ा और नारियल जैसे देखने में इतने असम्बद्ध दो पदार्थों की बनावट में ऐसी अच्छी संगति हो।"

केकड़े के इस दृष्टान्त से किसको सन्देह हो सकता है कि उस छुद्र प्राणी के शरीर में चेतना या सामान्य ज्ञान नहीं है। नारियल का लेना, उसका छिलका उतारना और ऐसी ओर से उतारना जिसके नीचे छिद्रों का चिह्न पाया जा सके, फिर एक छिद्र को खोलकर उसकी गिरी खाना, यह बिना निर्वचन-शक्ति के कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त डार्विन ने एक बात का उल्लेख नहीं किया। हमारा यह अनुमान है कि वह बात भी अवश्य होती होगी, अर्थात् केकड़ा उसी अवस्था में नारियल के साथ ऐसा व्यवहार करता होगा जब उसे भूख लगती होगी या वह अपनी सन्तान को चुगा देना चाहता होगा, अन्यथा नहीं। डार्विन को अपने विषय के लिए इसके उल्लेख की आवश्यकता न थी। अगर कोई उससे पूछता तो वह इस प्रश्न का वही उत्तर देता जो हमारा अनुमान है। यदि हम इस अनुमान को भी डार्विन के कथन के साथ मिला

दें तो क्या कोई कह सकता है कि केवल भौतिक शास्त्र के आधार पर ही इस व्यापार की व्याख्या हो सकेगी ? जहाँ निर्वचन-शक्ति (Selective faculty) है वहाँ जीव मानना ही पड़ेगा। श्नीडर (Schneider) ने पशुओं की प्रवृत्तियों को चार कोटियों में विभक्त किया है—(१) भोजन-प्राप्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ, (२) आत्म-रक्षा-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ, (३) सन्तान-पालन-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ, और (४) प्रजनन-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ।

कुछ लोग समझते हैं कि पशु अपनी भोजन-प्राप्ति के लिए कुछ चालाकी नहीं चलते। जैसे आग जला देती है और पानी बहा ले-जाता है, उसी प्रकार ये पशु भी अपना शिकार कर लेते हैं। परन्तु जिन्होंने पशुओं के स्वभावों का निरीक्षण किया है वे बताते हैं कि उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी अन्धी नहीं होतीं जितनी लोगों ने समझ रक्खी हैं। डार्विन ने ऐपीरा (Epeira) नाम की एक बड़ी मकड़ी का उल्लेख किया है। जब वह किसी बड़े कीड़े को पकड़ती है तो बड़ी प्रवीणता से उसके चारों ओर जाला पूर देती है और साथ ही ऐसे तागे निकालती है कि बेचारे कीड़े के चारों ओर कुकून-सा बन जाता है, तब वह अपने शिकार को बड़े ध्यान से देखती है और काट लेती है। काटने के पश्चात् वह हट जाती है और बड़े धैर्य के साथ उस समय की प्रतीक्षा करती है जब विष फैले और कीड़ा मर जाय। एपीरा के इस व्यवहार की तुलना एक जंगली मनुष्य से कीजिये जो अपना पेट भरने के लिए जंगली जानवरों की तलाश में घात लगाता है।

अपनी रक्षा और अपनी सन्तान के पालन के लिए पक्षी भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग करते हैं। वे घोंसले बनाते हैं, शत्रु का सामना करते हैं, अंडों को सुरक्षित स्थान में रखते हैं।

आप शायद यह कहें कि चूंकि इनको सीखना नहीं पड़ता और प्रवृत्तियाँ किसी विशेष शिक्षा के बिना ही आ जाती हैं इसलिए ये चेतना-शून्य होती हैं।

यहाँ स्टौट के मनोविज्ञान से एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

"Instinctive movements from the outset bring into play whatever mental activity the animal may be capable of. They do not go on while the animal is pre-engaged with something else. Either they occupy attentive consciousness is not concerned with them at all. The last alternative seems *prima facie* improbablc and further consideration justifies us in dismissing it altogether."

(Stout's **Manual of Psychology**, p. 338)

"प्रवृत्ति-सम्बन्धी क्रियाओं में पहले से ही वह सब मानसिक व्यापार सम्मिलित रहता है जो पशु की योग्यता के अनुकूल हो। जबतक पशु किसी अन्य कार्य में लगा रहता है वे क्रियाएँ नहीं होतीं। इससे प्रकट होता है कि या तो उनमें ध्यान-युक्त चेतना होती है या चेतना से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी बात तो ऊपरी दृष्टि से भी सम्भव नहीं प्रतीत होती और गम्भीर विचार हमको आज्ञा देता है कि हम उसको सर्वथा अस्वीकृत कर दें।"

इसका तात्पर्य यह है कि स्टौट महोदय की राय में कोई प्रवृत्ति बिना चेतना (consciousness) के नहीं हो सकती। इसलिए पशुओं में चेतना का मानना आवश्यक है। स्टौट महोदय ने ध्यान (Attentive forces) पर बड़ा बल दिया है।

यहाँ प्रवृत्तियों (Instincts) और परावर्तित क्रियाओं (Reflex-actions) का भेद भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि जिनको तुम प्रवृत्तियाँ कहते हो वे वस्तुत: परावर्तित क्रियाएँ मात्र हैं।

शायद पाठकवर्ग परावर्तित क्रिया का अर्थ न समझे हों। परावर्तित क्रिया वह क्रिया है जो बिना ध्यान के स्वत: ही हो जाती है। प्राणियों के शरीर में ऐसी क्रियाएँ बाहरी वस्तुओं की

प्रतिक्रियाओं के कारण हुआ करती हैं। वे इस प्रकार की क्रियायें हैं जैसे घोड़ा दबाते ही बन्दूक छूट जाय। लोग प्रवृत्तियों को परावर्तित क्रिया इसलिए कहते हैं कि चेतना माननी न पड़े।

स्टौट महोदय ने इसके विरोध में बहुत अच्छा लिखा है—

"In the *first* place the whole behaviour of the animal throughout the course of an instinctive activity, even on its first occurrence, shows all the outward characteristics of attentive process. It is marked by adaptation of the sense organs for certain stimuli rather than others, and is throughout pervaded by the attitude of waiting, watching and searching for future impressions. In this respect it is sharply contrasted with the mere reflex. The reflex reaction occurs when the stimulus is applied as a loaded pistol goes off when the trigger is pulled. It is not prepared for by previous activity. Until the appropriate stimulus occurs the animal remains passive. On the other hand, the bird gathering materials for its nest, ants tending eggs and larvae, a cat, or a crab lying in wait for a prey, take the initiative, so to speak, and to go out to meet coming impressions. Thus the successive part of a complex instinctive process, instead of appearing to the observer as a mere sequence of separate reactions each evoked by its own separate stimulus, irresistibly suggest conative unity pervading and connecting them as stages or phases in the development of one continued action." (p. 336)

"प्रथम तो समस्त प्रवृत्ति-जन्य व्यापार में, चाहे वह जीवन का सबसे पहला व्यापार ही क्यों न हो, पशु के सम्पूर्ण ढंग से प्रतीत होता है कि ध्यान के सभी चिह्न विद्यमान हैं, क्योंकि बाह्य नियत प्रभाव को ग्रहण करने के यह अमुक इन्द्रिय-गोलक को तैयार करता है और अमुक को नहीं और आनेवाले प्रभावों के लिए प्रतीक्षा करता है, देखभाल रखता है और खोज भी करता है, यह चिह्न परावर्तित क्रिया से भिन्न है। परावर्तित क्रिया तो

तभी कहलाती है जब पशु ने पहले से कोई तैयारी न की हो और सर्वथा निश्चेष्ट हो, जैसे बन्दूक झट से छूट गई। परन्तु जब चिड़ियाँ घोंसला बनाने के लिए सामग्री इकट्ठा करती हैं, चींटियाँ अपने अण्डों-बच्चों को पालती हैं, बिल्ली या केकड़ा शिकार की खोज में रहते हैं तो ये पहले से निश्चेष्ट नहीं होते, किन्तु आनेवाले प्रभावों का स्वागत करने के लिए तैयारी करते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति-जन्य मिश्रित व्यापार के क्रमशः भागों के निरीक्षण से प्रतीत होता है कि हरेक भाग व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग प्रभावों की प्रतिक्रिया-मात्र नहीं है, किन्तु उसमें इच्छाशक्ति द्वारा समष्टीकरण और विकास का निरन्तर व्यापार विद्यमान है।"

इसको कुछ अधिक स्पष्ट कर दें। जितनी परावर्तित क्रियाएँ (Reflex actions) हैं उनके लिए कोई पहले से तैयारी नहीं करता। ऐसी भिन्न-भिन्न क्रियाओं में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। भिन्न-भिन्न क्रियाएँ भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होती हैं, जैसे यदि कोई सिर पर लाठी मारे तो हाथ झट से स्वभावतः बिना चेष्टा किये ही ऊपर को उठ जाता है। उसी के साथ यदि कोई पीठ में नोंच ले तो हाथ झट से उधर जाने के लिए उद्यत होगा। हाथ का यह व्यापार परावर्तित क्रिया है। इसके लिए हाथ ने पहले से कोई तैयारी नहीं की होती और न उसके दो व्यापारों में परस्पर कोई सम्बन्ध होता है। इसलिए बहुत-से मनोवैज्ञानिकों के मत में ऐसे परावर्तित कार्यों में चेतना या इच्छाशक्ति नहीं पाई जाती, जैसे घोड़े को दबाने से गोली छूटती है तो बन्दूक से चेतना प्रकट नहीं होती। परन्तु जब चिड़िया घोंसला बनाती है या बिल्ली चूहे की खोज में फिरा करती है, तो समस्त व्यापार से चेतना और इच्छा-शक्ति का बोध होता है क्योंकि जंगल में जाकर तिनके लाना, फिर तिनकों को एक नियत प्रकार से क्रम के अनुसार रखना, ये सब व्यापार असम्बद्ध और अलग-अलग नहीं हैं। इच्छाशक्ति ने ही उन सबका एकीकरण किया है।

इससे सिद्ध होता है कि पशुओं में जीव मानने के लिए वे सब

कारण उपस्थित हैं जो मनुष्यों में जीव मानने के लिए हो सकते हैं।

पहले हमने प्रवृत्ति की जो व्याख्या डार्विन के शब्दों में दी है, उसमें एक शब्द है 'इसी प्रकार', अर्थात् अनेक प्राणियों के व्यापारों में कोई भिन्नता नहीं होती। जैसे सभी घड़ियों की सुइयाँ चाबी देने पर दाहिनी ओर को ही चल पड़ती हैं, ऐसा नहीं होता कि कोई सुई कभी दाहिनी ओर चले तो कभी बाईं ओर; सभी सुइयों के व्यापारों की यह अभिन्नता प्रकट करती है कि सुइयाँ चेतनारहित हैं। परन्तु, पशुओं के व्यापारों में भिन्नता भी पाई जाती है। जैसे लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan) ने अपनी पुस्तक 'Animal Life and Intelligence' में सिद्ध किया है कि पशु अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने व्यापारों में भिन्नता भी कर देते हैं। डार्विन ने मधुमक्खियों को छत्ता बनाते देखा और मालूम किया कि यदि मोम को जोड़ते समय छत्ता कुछ तिरछा हो जाय तो मक्खियाँ उसको बिगाड़ देती हैं और फिर दुबारा बनाना आरम्भ करती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक कारीगर के ईंटें जोड़ते समय यदि दीवार टेढ़ी हो जाती है तो कारीगर उसको तोड़ देता है और ईंटों को फिर ठीक-ठीक रीति से जोड़ता है। यह करने, न करने और अन्यथा करने का व्यापार स्पष्ट रीति से सिद्ध करता है कि पशु-पक्षियों में चेतना और इच्छाशक्ति दोनों हैं। वे निर्वचन करते रहते हैं।* (देखो स्टौट की 'साइकॉलॉजी')

अब प्रश्न यह है कि प्रवृत्तियाँ घटती-बढ़ती हैं या नहीं और उनमें शिक्षा का कुछ प्रभाव पड़ सकता है या नहीं? जेम्स ने अपने मनोविज्ञान में इन दोनों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। वह कहता है कि—

---

*इसके लिए निम्न पुस्तकों का अध्ययन उपयोगी होगा—

Lloyd Morgan की 'Animal Life ond Intelligence', 'British Journal of Psychology', vol. VIII; Darwin की 'Origin of Species'.

"No matter how well endowed an animal may originally be in the way of instincts, his resultant actions will be much modified if the instincts combine with experience." (James, Psychology, 396)

अर्थात्—'किसी पशु की प्रवृत्तियाँ कितनी ही प्रौढ़ क्यों न हों, अनुभव से उनमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य हो जायगा।'

वह इस विषय में दो बातें कहता है—

(*a*) The inhibition of instincts by habits.

(*b*) The transitoriness of instincts. (p. 399)

अर्थात्—(१) आदतों से प्रवृत्तियाँ रुक सकती हैं, और (२) प्रवृत्तियाँ क्षणिक भी होती हैं।

जेम्स ने इसके कई उदाहरण दिये हैं, जैसे—(१) एडीरॉनडैक के जंगल (Adirondack wilderness) के किसानों का अनुभव है कि यदि उनकी गाय भाग जाय और जंगल में बच्चा दे बैठे तो यह बच्चा आठ दिन में ही हिरन के बराबर तेज़ हो जाता है और पकड़ाई नहीं देता। यही गाय यदि घर में बच्चा देती तो सीधा-साधा होता।

(२) मिस्टर स्पैलिङ्ग (Mr. Spaling) का अनुभव है कि यदि मुर्ग़ी का बच्चा ऐसे समय अंडे से निकले जब मुर्ग़ी पास न हो तो वह बच्चा बजाय अपनी माँ के, किसी के भी पीछे लग लेता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में कई परीक्षण किये। वे कहते हैं—

"Unreflecting lookers—on, when they saw chickens a day old running after me, and older ones following me for miles; and answering to my whistles, imagined that I must have some occult power over the creatures; whereas I had simply allowed them to follow me from the first."

अर्थात्—"जब अविचारशील लोग देखते थे कि एक दिन का मुर्ग़ी का बच्चा मेरे पीछे दौड़ रहा है और कुछ बड़े, मीलों मेरे पीछे दौड़ते जाते और मेरी सीटी का अनुसरण करते हैं तो ये लोग

समझते थे कि मुझमें कुछ दैवी शक्तियाँ हैं। वस्तुत: मैंने केवल आरम्भ से ही उनमें यह आदत डाल दी थी।"

इस प्रकार के उदाहरण इतने अधिक हैं कि पुस्तकें भरी जा सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तियाँ घटती रहती हैं और इनपर शिक्षा का भी प्रभाव पड़ता है। स्कॉटलैण्ड के कुत्ते भेड़ों की उसी प्रकार रखवाली करते हैं जैसे गडरिया। संस्कारों से, पशु-शिक्षा के बल से वे अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ भूल जाते हैं; जो पशु स्वभावत: एक-दूसरे के शत्रु समझे जाते हैं, वही परस्पर मित्रता से रहने लगते हैं। इन सब बातों में पशु और मनुष्य के व्यवहार में बहुत-कुछ समानता है। कुछ लोग समझते हैं कि मनुष्य सदा तर्क से काम लेता है। उसमें अन्धी प्रवृत्ति नहीं होती, पशु में अन्धी प्रवृत्ति होती है। परन्तु यह बात नहीं है। मनुष्य में भी अन्धी प्रवृत्तियाँ होती हैं और पशु में भी। जेम्स का कथन है कि—

"Man has a fat greater variety of impulses than any lower animals; and any one af these impulses, taken in itself, is as 'blind' as the lowest instinct can be." (p. 395)

अर्थात्—'मनुष्य में पशु से कहीं अधिक प्रवृत्तियाँ हैं और वे इतनी ही अन्धी हैं जितनी किसी पशु की।' परन्तु स्मृति और विचार के पश्चात् इनका अन्धापन नष्ट हो जाता है। पशुओं की प्रवृत्तियों का भी यही हाल है। मुर्गी पहले पहल अंडा रखती है तो अन्धी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर, परन्तु दुबारा अंडा रखने में स्मृति काम करती है और वह प्रवृत्ति फिर उतनी अन्धी नहीं रहती।

अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह गया जिसपर प्रकाश डालना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि मनुष्य और पशु की चेतना में कुछ अन्तर है या नहीं और जो तर्कशक्ति मनुष्य में पाई जाती है वह पशु में भी है या नहीं ?

पहले तो देखना यह है कि तर्कशक्ति का चिह्न क्या है ? यदि बच्चे को कोई रुपया दे तो वह ले लेगा और यदि कोई उससे कहे

कि रुपया दे दो और उसके बदले में जलेबी या सेब या नारंगी ले लो तो वह तुरन्त ही रुपया दे देगा और उस मीठी चीज़ को ले लेगा। इससे प्रकट होता है कि वह तर्क करता है और अपनी बुद्धि के अनुसार नारंगी को रुपये से अधिक मूल्यवान् समझता है। आपसे अगर कोई कहे कि रुपया दे दो और एक जलेबी ले लो तो आप नहीं देंगे, क्योंकि आप जानते हैं कि जलेबी से रुपया मूल्यवान् है। यदि आप किसी जेलखाने में बन्द हों और कई दिन से भोजन न मिला हो और न मिलने की आशा हो, उस समय कोई आकर कहे कि अपनी जेब का एक रुपया दे दो और एक जलेबी ले लो तो आप अवश्य रुपया देकर जलेबी ले लेंगे। यह भी तर्क है क्योंकि जिस अवस्था में आप हैं उस अवस्था में रुपये से एक जलेबी ही मूल्यवान् है। तर्क का यह अर्थ नहीं है कि आपका निश्चय ठीक ही होगा। चाहे निश्चय ठीक हो चाहे बेठीक, निश्चय होना चाहिए। संस्कृत का शब्द 'निश्चय' यथार्थ में तर्क का सूचक है। 'निश्चय' शब्द का अर्थ है चुनना। यदि कई चीज़ें हों और अपनी बुद्धि का प्रयोग करके उनमें से एक को चुन लें, तो यही तर्क है। यहाँ जो तीन व्यापार दिये गये उन तीनों में तर्क उपस्थित था, क्योंकि उनमें निश्चय करना पड़ा।

निश्चय करने का व्यापार कभी तो समय लेता है और कभी इतनी जल्दी होता है कि निश्चय करनेवाली सत्ता को भी पता नहीं चलता कि मस्तिष्क ने निश्चय किया या नहीं किया। जब किसी बच्चे से पूछो कि ८ और ९ कितने होते हैं तो वह अंगुलियों पर गिनता है और बड़ी देर में उत्तर देता है १७ ; क्या आपने बिना गिने बताया ? नहीं, गिना तो आपने भी, परन्तु आप इतनी जल्दी गिन गये कि आपको भी मध्यवर्ती समय और व्यापार का पता नहीं चला। एक बार एक बच्चे से पूछा गया कि आठ बजने में कितने मिनट हैं ? पूछनेवाला उत्तर की प्रतीक्षा न करके काम में लग गया। बच्चा घड़ी के खाने गिनता रहा और कई मिनट के बाद आकर कहने लगा—४५ मिनट। आप इस उत्तर के लिए

आधा सेकण्ड भी न लेते, परन्तु गिनते आप भी अवश्य। इसी प्रकार अभ्यास करते-करते निश्चय का व्यापार इतना प्रतीत नहीं होता। जितना अधिक विद्वान् है उतना ही वह बड़े-से-बड़े कठिन प्रश्न को देखते ही बता देता है, अर्थात् उसकी बुद्धि इतनी तीव्रता से कार्य कर जाती है कि देखनेवाले को यह सन्देह हो जाता है कि वह सोचने का काम करता भी है या नहीं? एक बैलगाड़ी जितनी दूर एक महीने में जायेगी, एक मेल-ट्रेन एक दिन में उतनी ही जाती है। जिसने मेल-ट्रेन की चाल नहीं देखी वह समझेगा कि मेल-ट्रेन मार्ग पर चले बिना ही किसी दैवी शक्ति से आ गई, परन्तु यह बात नहीं है। इसी प्रकार अभ्यास के आधिक्य से निश्चय का कष्ट और समय इतना कम हो जाता है कि हमें ये काम अनायास प्रतीत होने लगते हैं, वस्तुतः ये अनायास नहीं हैं।

एक बार एक सैनिक कटोरे में घी लिये जाता था। किसी शरारती मनुष्य ने पीछे से अचानक पुकारा—'फ़ाल इन' (Fall in); सैनिक के हाथ से कटोरा छूट पड़ा और वह उसी मुद्रा में खड़ा हो गया जैसे सेना के साथ परेड पर खड़ा हुआ करता था, क्योंकि उसको 'फ़ाल इन' शब्द सुनते ही परेड में खड़े होने की आदत पड़ गई थी। जब पहले दिन परेड पर खड़ा हुआ होगा तो विचारशक्ति तथा इच्छाशक्ति दोनों की आवश्यकता पड़ी होगी। अब आदत पड़ते-पड़ते यह व्यापार चेष्टा-शून्य और निश्चय-शून्य-सा प्रतीत होने लगा। सैनिक के इस व्यापार की तुलना प्रवृत्ति और परावर्तित क्रिया (Reflex action) से कर सकते हैं। वस्तुतः बहुत-से ऐसे काम हैं जिनके वर्गीकरण में दक्ष मनोवैज्ञानिकों को भी कठिनाई पड़ती है। किसी-किसी व्यापार के लिए यह समझ में नहीं आता कि इसे प्रवृत्ति की में कोटि रक्खा जाय, परावर्तित क्रिया या तर्क की, क्योंकि उनमें चेष्टा की मात्रा बहुत न्यून प्रतीत होती है और कभी प्रतीत होती ही नहीं।

यह तो सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि तर्क (Reasoning) के बहुत-से अभ्यस्त व्यापार ऐसे हैं जो प्रवृत्ति (Instinct) तो नहीं

हैं, परन्तु प्रवृत्ति की सीमा तक लगभग पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार बहुत-से प्रवृत्ति-जन्य व्यापार परावर्तित-क्रिया (Reflex-action) तो नहीं हैं, किन्तु परावर्तित-क्रिया की सीमा तक पहुँच जाते हैं। इस समानता का मुख्य कारण अभ्यास है। इसके सम्बन्ध में मैं यह कहता हूँ कि क्या अधिक अभ्यास करते-करते यह सम्भव नहीं कि प्रवृत्तियाँ भी आरम्भ में सचेष्ट तर्क कर रही हों? प्रवृत्तियाँ शरीर पर कुछ प्रभाव डालती हैं तो देर तक रहने-वाली प्रवृत्तियाँ स्नायु-संस्थान (Nervous system) को इस प्रकार का कर सकती हैं कि कुछ दिनों बाद वही व्यापार परा-वर्तित-क्रिया के समान प्रतीत होने लगे। इसका एक उदाहरण लीजिये। 'भय' की प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए जेम्स ने श्नीडर (Schneider) का एक कथन दिया है—

"It is a fact that men, especially in childhood, fear to go into a dark cavern or a gloomy wood. This feeling of fear arises to be sure, partly from the fact that we easily suspect that dangerous beasts may lurk in these localities a suspicion due to stories we have heard and read. But on the other hand, it is quite sure that this fear at a certain perception is also directly inherited. Children who have been carefully guarded from all ghost stories are nevertheless terrified and cry if led into a dark place, especially if sounds are made there. Even an adult can easily observe that uncomfortable timidity steals over him in a lanely wood at night, although he may have the fixed conviction that not the slightest danger is near.

"This feeling of fear occurs in many men even in their own house after dark, although it is much stronger in a dark cavern or forest. The fact of such instinctive fear is easily explicable when we consider that our savage ancestors through innumerable generations were accustomed to meet with dangerous beasts in caverns, especially

bears and were for the most part attacked by such beasts during the night and in the wood; and that thus an inseparable association between the perceptions of darkness, caverns, woods, and fear took place and was inherited."

(Der Menchliche Wille, p. 224, quoted in James' **Psychology**, p. 411)

अर्थात्—"यह सच है कि मनुष्य और विशेषकर बच्चे अँधेरी खोह या घने जङ्गल में जाने से डरते हैं। इस भय का यह भी एक कारण हो सकता है कि हमें सन्देह हो जाता है कि ऐसे स्थानों में हिंसक पशु छिपे होंगे क्योंकि हमने पुस्तकों में या कहानियों में इस प्रकार की घटनाओं के विषय में पढ़ा या सुना होता है। साथ ही यह भी ठीक है कि नियत वस्तुओं को देखकर डरना सीधा पैतृक भी आता है। वे बच्चे भी, जिनको भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनने का कोई अवसर नहीं दिया गया, अँधेरे में ले-जाने से डर पड़ते और चिल्लाने लगते हैं, विशेषकर उस समय जब शोर भी होता हो। बड़े पुरुष को भी रात के समय सुनसान जङ्गल में जाते हुए भय के मारे कँपकँपी-सी होने लगती है, चाहे उसको कितना ही निश्चय क्यों न हो कि वहाँ कोई डर नहीं है।

"बहुत-से पुरुषों को तो ऐसा भय, अँधेरा छा जाने पर अपने घर में भी लगता है, यद्यपि अँधेरी खोह या जंगल में विशेष मात्रा में। भय की इस प्रवृत्ति की व्याख्या बहुत आसानी से हो सकती है यदि हम याद रक्खें कि बहुत-सी पीढ़ियों पूर्व हमारे पूर्वज खोहों में हिंसक जीवों का सामना करने के अभ्यासी थे, विशेषकर रीछों के। ये पशु प्रायः रात में उनपर जंगलों में आक्रमण किया करते थे। इसलिए अन्धकार, खोह, जंगल, और भय का ऐसा अटूट सम्बन्ध जुड़ गया कि यह पैतृक सम्पत्ति के रूप में हम तक आ गया।"

इसका सारांश यह निकला कि जिसे हम भय की प्रवृत्ति

(Instinct of fear) कहते हैं वह हमारे कई पीढ़ियों पूर्व के पितामहों के लिए प्रवृत्ति नहीं, किन्तु तर्क-युक्त अनुभव था, अर्थात् प्रवृत्तियों का निकास तर्क-युक्त चेष्टा में है। केवल उस निकास तक पहुँचने का प्रयत्न दुस्तर है, क्योंकि वे चेष्टायें इस जीवन में नहीं हुईं किन्तु हमारे पूर्वजों के जीवन में हुई होंगी और ये भौतिक शरीरों के द्वारा हम तक आ पहुँची हैं।

श्नीडर महाशय ने तो हमारे भय की प्रवृत्ति का निकास हमारे पूर्वज मनुष्यों तक ही पहुँचाया है। विकासवादी बहुत-सी प्रवृत्तियों का निकास हमारे पूर्वज पशुओं तक पहुँचा देते हैं। पशुओं की प्रवृत्तियों का निकास भी खोजना ही है। वह जादू से तो उत्पन्न न हो जायेगी।

अब हम एक प्रश्न करते हैं—जो प्रवृत्ति हम इस जीवन में बनाते हैं वह हम तक भौतिक शरीर द्वारा नहीं, किन्तु आत्मा द्वारा आती है। स्मृति से प्रवृत्ति-परिवर्तन के उदाहरण हम इसी अध्याय में दे चुके हैं। स्मृति बिना चेतन आत्मा के कहाँ रहेगी? फिर इस जीवन से पूर्व की आई हुई प्रवृत्तियों के लिए भी यह क्यों न माना जाय कि ये प्रवृत्तियाँ पूर्वजन्म के सचेष्ट और सतर्क व्यापारों द्वारा बनी हों और वहीं से उन्हें आत्मा यहाँ तक लाया हो, क्योंकि प्रवृत्तियाँ आत्मा की हैं, न कि शरीर की। तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तियों से पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के सिद्धान्त की भी तो पुष्टि होती है। क्यों न माना जाय कि वही आत्मा, जो मनुष्य बनकर रहता है, पशुओं के शरीर में भी पशु बनकर रह सकता है? जिन प्रवृत्तियों को वह पाशविक जीवन में बनाता है वही मानुषिक जीवन में आती हैं और जो प्रवृत्तियाँ मानुषिक जीवन में आती हैं वह पाशविक जीवन में पहुँच जाती हैं।

अभी एक प्रश्न रह गया। क्या मानवी तर्क-शक्ति और पशुओं की तर्क-शक्ति में कुछ भेद है?

यह तो निश्चित बात है कि पशुओं पर शिक्षा का प्रभाव पड़ता है और उनकी बुद्धि अवश्य ही विकसित हो जाती है, परन्तु

हमारी यह धारणा है कि प्रत्येक प्रकार के विकास के लिए एक सीमा है। विकास के लिए मस्तिष्क और परिस्थिति दोनों चाहियें। यदि मस्तिष्क और परिस्थिति न हों तो केवल शिक्षा काम नहीं कर सकती। बाहरी शिक्षा तभी सम्भव है जब भीतर बीजशक्ति उपस्थित हो। भिन्न-भिन्न पशुओं के मस्तिष्क की बनावट भिन्न-भिन्न होती है। शिक्षा का प्रभाव आत्मा पर मास्तिष्किक यन्त्र द्वारा ही पड़ेगा। यदि मास्तिष्किक यन्त्र की बनावट इस योग्य नहीं है कि शिक्षा एक सीमा से आगे बढ़ सके तो उसी मस्तिष्क के रहते हुए शिक्षा में उन्नति न होगी। यही कारण है कि शेर आदि पशुओं को सरकस के काम तो सिखाए जा सकते हैं, परन्तु उनको सरकस का मैनेजर होना अभी तक सिखाया नहीं जा सका। हाथी विचित्र खेल तो दिखा सकते हैं, परन्तु पुस्तक नहीं लिख सकते। यदि मनुष्य चाहे तो एक सीमा के भीतर प्रत्येक पशु-पक्षी को कुछ-न-कुछ सिखा सकता है और इसलिये उसका कार्य-क्षेत्र भी वहीं तक सीमित रहेगा।

पुरातत्त्व-वेत्ताओं की खोजों से पता चलता है कि मनुष्य कभी उन्नति और कभी अवनति करता रहा है और मनुष्य की भिन्न-भिन्न जातियाँ कभी आगे कभी पीछे रहती आई हैं। परन्तु, पशु कभी मनुष्य से आगे नहीं बढ़े। इसका कारण यह नहीं था कि पशु एक योनि से दूसरी में नहीं जा सकता था। इसका मुख्य कारण यही है कि उनमें मास्तिष्किक उपकरण ऐसे थे जिनके होते हुए आगे उन्नति करना असम्भव था।

वैदिक साहित्य में पशुओं को भोग-योनि, और मनुष्यों को कर्म-योनि तथा भोग-योनि माना है, अर्थात् पशुओं में चेतना और बुद्धि तो मानी है, परन्तु बुद्धि और तर्क-शक्ति की इतनी मात्रा नहीं मानी जहाँ कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का प्रश्न उठ सके और उनको आचार तथा अनाचार का उत्तरदायी ठहराया जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि पशुओं में भोक्तृत्व, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व होने से उनमें जीवात्मा तो है, परन्तु जिस प्रकार दो

मास के बच्चे को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते, इसी प्रकार पशुओं को भी किसी आचार-अनाचार का उत्तरदायी नहीं मान सकते। मनुष्य-जीवन में भी बहुत-सी अवस्थाएँ हैं जिनमें उत्तरदातृत्व का प्रश्न नहीं उठता, जैसे—यदि कोई मनुष्य स्वप्न में गाली दे, उन्मत्त होने की दशा में किसी को मार दे, या गच्चा दे, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि उत्तरदातृत्व मस्तिष्क की विशेष विकसित अवस्था से ही हो सकता है और आचार-अनाचार का प्रश्न भी तभी उठता है। पशुओं के मस्तिष्क (या यों कहिये कि मास्तिष्किक यन्त्र) भिन्न-भिन्न तलों पर होते हुए भी मानवीतल से बहुत नीचे हैं।

□

अध्याय २३

मुक्ति

'जीवन की प्रयोजनवत्ता' नामक अध्याय में हम दिखला चुके हैं कि हमारे शरीर तथा मस्तिष्क का प्रत्येक अंग और उन अंगों का प्रत्येक व्यवहार उपयोगिता की दृष्टि से होते हैं। उनमें एक प्रकार का प्रयोजन है। प्रत्येक अंग समस्त शरीर की पुष्टि के लिए है और समस्त शरीर प्रत्येक अंग की पुष्टि के लिए। यह शरीर और इसके अंग-प्रत्यंग मिलकर मस्तिष्क के विकास के लिए और मस्तिष्क का विकास उन सूक्ष्म शक्तियों के विकास के लिए है जिनको या जिनके स्वामी को जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा की उन्नति का अर्थ यह है कि उसमें कर्त्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के जो गुण पाए जाते हैं उनमें विशदता आ जाए।

इसका अर्थ यह हुआ कि जीवात्मा की उन्नति विशेष सामग्री की प्राप्ति में नहीं, किन्तु उस सामग्री के प्रयोग करने में है। भोजन की दृष्टि से वह पुरुष भाग्यशाली नहीं है जिसके पास अधिक भोजन हो, किन्तु शक्तिशाली वह है जो भोजन भी रखता हो और उसका उपयोग भी कर सकता हो। यदि कोई बीमार मनुष्य बहुत-से उत्तम-उत्तम खाद्य पदार्थ रखता हो और उसका थोड़ा अंश भी न पचा सकता हो तो उसे कभी भाग्यशाली नहीं कह सकते। इसी प्रकार जीवात्मा की उन्नति उसकी निज शक्तियों के विकास में है।

जीवात्मा को जो शरीर तथा संसार की अन्य वस्तुएँ दी गई हैं वे सब उसके उपयोग के लिए हैं। परन्तु जीवात्मा उनको उपयोग

में लाने के लिए कुछ परतन्त्र और कुछ स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि वह उनमें से किसी को चुनकर उनका सदुपयोग, दुरुपयोग, अनुपयोग कर सकता है; परतन्त्र इस अर्थ में है कि वह उस सामग्री के बाहर नहीं जा सकता। यह स्वतन्त्रता (Free Will) और परतन्त्रता (Determinism) का मिश्रण बड़ी जटिल समस्या है। दार्शनिकों ने इनकी व्याख्या में बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं। अभी इस बात का निर्णय नहीं हो सका कि स्वतन्त्रता की सीमा कहाँ तक जाती है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों ही अपनी-अपनी सीमा तक विद्यमान हैं। एक बार एक मनुष्य ने हज़रत अली से पूछा कि 'मनुष्य कर्म में स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' उन्होंने कहा, 'दोनों।' उसने पूछा, 'कैसे ?' हज़रत अली ने उससे कहा, 'एक पैर उठाओ !' उसने उठा लिया। फिर उन्होंने कहा, 'दूसरा पैर उठाओ !' उसने कहा, 'नहीं उठ सकता।' हज़रत अली ने उत्तर दिया, 'बस, यही तुम्हारी स्वतन्त्रता है। पहले तुम स्वतन्त्र थे कि दाहिना पैर उठाते या बायाँ, परन्तु जब तुम दाहिना पैर उठा चुके तो परतंत्र हो गए। अब बायाँ पैर नहीं उठा सकते।'

यह बड़ा मोटा दृष्टान्त है, परन्तु इसमें बहुत बड़ी सचाई है। हम अपने कार्यों में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्वकी शक्तियों का विकास असम्भव हो जाता, हम जड़ हो जाते। एक घोड़े के ऊपर बहुमूल्य रत्न-जड़ित पोशाक डाल दीजिये। इससे उसकी उन्नति नहीं होती। परन्तु जब वही घोड़ा युद्ध में अपने स्वामी को ले-जाता है तो उसकी विचार-शक्ति का विकास होने लगता है, क्योंकि वहाँ वह उसका उपयोग करता है।

हमारे जीवन में स्वतन्त्रता-परतन्त्रता किस प्रकार मिश्रित है इसका एक मोटा दृष्टान्त ले सकते हैं। एक पिता अपने पुत्र को एक स्थान में अकेला ही छोड़ देता है। उस स्थान में एक विशाल भवन, एक उपवन, और खान-पान, पठन-पाठन आदि की

समस्त सामग्री सम्पादित कर देता है। पुत्र उनके उपयोग करने में स्वतन्त्र है। वह जिस चीज़ को चाहे जितना खाय, जिसको चाहे बिगाड़े। उपवन के जिस वृक्ष के तले चाहे बैठे, जिसको चाहे कटवा दे। जिस पुस्तक को चाहे पढ़े, जिसको चाहे न पढ़े। उसको निर्वचन करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वह सदुपयोग, दुरुपयोग और अनुपयोग तीनों कर सकता है, परन्तु उस सामग्री की सीमा के भीतर-भीतर। वह एक विशेष सीमा से बाहर नहीं जा सकता। वही उसकी परतन्त्रता है। यहाँ प्रत्येक वस्तु दो प्रकार से कार्य कर रही है। एक तो उन नियमों के अनुसार जो उन वस्तुओं की निज रक्षा के लिए बनाए गए हैं; दूसरे उन नियमों के अनुसार जो उस पुत्र के काम करने के लिए बने हुए हैं। ये दोनों नियम नियन्ता ने इस चातुर्य से बनाए हैं कि एक दूसरे में बाधा नहीं डालता जैसे उपवन के वृक्ष हैं। उन वृक्षों के उगने के अपने नियम अलग हैं। उन नियमों से उस पुत्र का कोई सम्बन्ध नहीं। यदि वह सेब के किसी वृक्ष को छूता तक नहीं तो भी वह वृक्ष अपने नियमों के अनुसार उगेगा, और यदि उसको काट देता है तो भी। यदि वह घी-शकर को मिलाकर हलवा बना लेता है तो उसका यह हस्तक्षेप घी और शकर के उनके निज नियमों को काटता नहीं। परन्तु उस पुत्र की यह स्वतन्त्रता कम और अधिक भी होती रहती है। कल्पना कीजिये कि उस भवन में कुछ चोर दरवाज़े हैं, जिनका उसको पता नहीं तो वह उनके प्रयोग करने में परतन्त्र है। वह उनको जानता ही नहीं। यदि पिता को मालूम हुआ कि पुत्र ने उन सब वस्तुओं का बड़ा सदुपयोग किया और वह अपनी स्वतन्त्रता को इस प्रकार काम में लाया कि उनकी शक्तियाँ अधिक उन्नत हो गई तो पिता ने आगे चलकर इसके पुरस्काररूप उन चोर दरवाज़ों का पता दे दिया। अब उसकी स्वतन्त्रता पहले से बढ़ गई। इसी प्रकार स्वतन्त्रता घटती-बढ़ती रहती है।

इसका एक और अच्छा दृष्टान्त लीजिये। एक पुस्तकालय है जिसमें पहली कक्षा से लेकर अन्तिम कक्षा तक की पाठ्य पुस्तकें

उपस्थित हैं। एक लड़का उसका अध्यक्ष है। यह पुस्तकालय उसी के लिए है। वह इनमें से किसी पुस्तक को पढ़ सकता है। कोई उसको रोकने-टोकनेवाला नहीं है। पहले वह किस पुस्तक को पढ़ेगा? स्वभावतः उसको पहली कक्षा की पुस्तक पढ़नी चाहिये। यदि पुस्तक को उठाएगा तो पुस्तक अपने समस्त मर्म को उसके लिए खोल देगी। अगर उसने उसकी बजाय बड़ी कक्षा की पुस्तक उठा ली तो वह उस पुस्तक को समझने में स्वतन्त्र न रहेगा। वह कुछ न समझेगा और मन में कहेगा कि स्वतन्त्रता कहाँ है? यह पुस्तक तो मुझे कुछ बताती ही नहीं। यदि वह बुद्धिमान् है और शनैः-शनैः क्रमानुसार पुस्तकों को पढ़ता जाता है तो समस्त पुस्तकों को समझने की स्वतन्त्रता उसमें आती जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों उसकी योग्यता बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों उसकी स्वतन्त्रता भी बढ़ रही है। नियम वही है, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु पुत्र ने अपनी उपस्थित स्वतन्त्रता का सदुपयोग करके अपनी स्वतन्त्रता का क्षेत्र भी विस्तृत बना लिया। यह स्वतन्त्रता उसकी अपनी निज परिश्रम की कमाई का फल है। यह फल इस प्रकार दिया गया है कि न तो यही कह सकते हैं कि उसने स्वयं ही यह फल पा लिया, क्योंकि पुस्तकालय के नियन्ता के नियम काम कर रहे हैं, और न यही कह सकते हैं कि उसमें उस पुत्र का कोई हाथ नहीं, क्योंकि उसने निर्वचन भी किया और परिश्रम भी।

सृष्टि में जो सामग्री हमको प्राप्त है, वह इसी पुस्तकालय के तुल्य है। केवल एक विशेषता है—यहाँ भिन्न-भिन्न पुस्तकें नहीं हैं। पुस्तक एक है परन्तु वह भिन्न-भिन्न श्रेणियों की योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। पहली कक्षावाला उसे पढ़ता है तो उसी के अनुसार ज्ञान होता है। वह समझता है कि इस पुस्तक में बस इतना ही लिखा है, अधिक नहीं। परन्तु जितना वह परिश्रम करता है उसको उसी पुस्तक के उसी पृष्ठ से नया ज्ञान मिलता जाता है। वह सृष्टिरूपी पुस्तक सबके लिए खुली है। एक चींटी इसी को पढ़ती है और उतना ही

ज्ञान प्राप्त कर सर सकती है जितनी उसकी शक्ति है । एक जंगली मनुष्य उसी पुस्तक को पढ़ता है और कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वही जंगली मनुष्य सभ्यता प्राप्त करके फिर उसी पुस्तक को पढ़ता है और उसे वह पुस्तक अद्‌भुत ज्ञानों का भंडार प्रतीत होती है। बच्चा दूध पीता है, थोड़ा ही पी सकता है। अपनी सीमा के भीतर पिये तो उसे आनन्द मिलता है। मात्रा से अधिक होने पर उसे मतली आने लगती है । वही बच्चा अपनी भोक्तृत्व नामक शक्ति को बढ़ाता है और दस सेर तक दूध बड़े स्वाद से पी जाता है। इस प्रकार जीव स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी, और स्वतन्त्रता को बढ़ा भी सकता है। जब इस स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा हो जाती है तो इसी का नाम अपवर्ग या मुक्ति है, क्योंकि वह परतंत्रता की बेड़ियों से छूट जाता है।

मुक्ति को परमपद कहा है। यह है भी परमपद, परन्तु भौतिक अर्थ में नहीं—यह जीवात्मा की वह अवस्था है जिसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियों की पराकाष्ठा है, जिसमें अन्य सब बन्धन छूट जाते हैं, जिसमें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। परन्तु मुक्ति के विषय में लोगों में एक भ्रम फैला हुआ है। वे समझते हैं कि मुक्ति कोई स्थानविशेष है जहाँ जीवात्मा को उसके कामों के उपलक्ष्य में भेज दिया जाता है, या कोई ऐसा पदार्थ है जो उसे मिल जाता है। इसीलिए लोग अपने विकास का सम्बन्ध मुक्ति से नहीं जोड़ते। मुक्ति के लिए मनुष्य उसी प्रकार इधर-उधर भटकता फिरता है जिस प्रकार स्कूल के काहिल परीक्षार्थी प्रमाण-पत्र (सर्टीफिकेट) के लिए मारे-मारे फिरते हैं—कोई प्रश्न-पत्र ही बता देता ! कोई परीक्षक से सिफ़ारिश ही कर देता ! किसी प्रकार पर्याप्त अङ्क मिल जाते ! यदि उनको मालूम हो जाय कि परीक्षा में उत्तीर्ण होना या डिग्री का मिलना काग़ज़ के सर्टीफिकेट का नाम नहीं, अपितु अपनी आन्तरिक शक्तियों की विकसित अवस्था का नाम है तो वे बहुत-से दूषित और हानिकारक व्यापारों से रुक जाते। विद्यार्थी परीक्षा

में उत्तीर्ण होने के उचित परिश्रम के अतिरिक्त क्या-कुछ नहीं करता ! धर्मान्ध पुरुष भी मुक्ति का सर्टीफिकेट लेने के लिए क्या-क्या ढोंग नहीं रचते ! यदि मुक्ति का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाय तो मानव-जाति की बहुत-सी पीड़ाएँ कम हो सकती हैं और परिश्रम का अपव्यय बच सकता है।

तो मुक्ति एक परमपद है। इसमें और आपमें इतना अन्तर है जितना एक ऊँचे पहाड़ की चोटी में और उसके सबसे निचले भाग में। इस भौतिक उपमा पर ध्यान दीजिये और इसकी विषमता को छोड़कर समता से लाभ उठाइये। आप नीचे खड़े हैं। आप ऊपर चोटी पर चढ़ना चाहते हैं। इसके लिए कोई सीधा मार्ग नहीं है। कोई आदमी पहाड़ की चोटी पर सीधा नहीं चढ़ सकता। जब मैं पहाड़ी मार्गों को देखता हूँ तो मुझे यह प्रतीत होने लगता है मानो प्रकृति देवी ने इन मार्गों को मुक्ति के दृष्टान्तरूप में ही रचा है। जिन्होंने देखा है वे जानते हैं कि पहाड़ी मार्ग नाक की सीध नहीं जाते। ये चक्कर काटकर जाते हैं। सौ फीट ऊँचा चढ़ने के लिए कभी-कभी पाँच-छ: मील चलना पड़ता है। छ: मील में ३१,६८० फीट होते हैं, अर्थात् सौ फीट की बजाय ३१६ गुणा अधिक चलना पड़ा। यदि मनुष्य सीधा चढ़ सकता तो कितनी बचत होती! परन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं। इसीलिए चक्करदार मार्ग बनाए गए जिनमें चढ़ाई कम प्रतीत हो और चढ़ने में साँस न फूले। ये मार्ग इस प्रकार हैं कि कहीं ऊपर को जाते हैं तो कहीं नीचे को, कहीं पूर्व को तो कहीं पश्चिम को। पहाड़ी मार्ग में और मुक्ति के मार्ग में इतना भेद है कि यदि आप पहाड़ की नियत ऊँचाई पर चढ़ गए तो उसके सहारे खड़े रह सकते हैं, परन्तु मुक्ति के मार्ग के जो स्टेशन हैं उनपर ठहरने के लिए भी आपको परिश्रम करना पड़ता है। कल्पना कीजिये कि हर पग पर ऐसी कल लगी हुई है कि यदि आप कहीं ठहरकर निश्चेष्ट हो जायँ तो आप वहाँ रहने नहीं पाते। वह कल आपको कई फीट नीचे के स्थान में ला डालती है और आपको कई मील यात्रा फिर करनी पड़ती है।

लड़के साँप-सीढ़ी (Snake Ladder) का खेल खेलते हैं न ! कहीं तो सीढ़ी ऊपर चढ़ा ले-जाती है और कहीं साँप को अवसर मिल जाता है और वह घंटों की कमाई को क्षण में नष्ट करके नीचे ला गिराता है। मुक्ति के मार्ग में भी इसी प्रकार की साँप-सीढ़ी है। साँप आलस्य और प्रमाद का रूप है और सीढ़ी परिश्रम का। परिश्रम करते जाइये, आप कुछ-न-कुछ ऊँचा चढ़ेंगे। ज़रा ढील दे दीजिये और झट आ गिरेंगे। इसका एक अच्छा उदाहरण हम स्कूल के विद्यार्थियों में पाते हैं। निरन्तर परिश्रम करनेवाला विद्यार्थी कहीं-का-कहीं पहुँच जाता है और जिसने विश्राम किया वह वहीं नहीं कहता जहाँ पहले था, वरन् बहुत पीछे जा पड़ता है। या तो पढ़े या भूले; बीच की तो अवस्था है ही नहीं।

अब इस दृष्टान्त का दार्ष्टान्ति लीजिये। कीट-पतंग से लेकर मनुष्य की योनि तक ये सब योनियाँ और इन योनियों की मध्य-वर्ती दशाएँ जीव की मुक्तिरूपी चोटी तक पहुँचने के लिए मार्ग हैं। ये चक्करदार रास्ते हैं जिनपर होकर गुज़रना है। भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न स्टेशनों पर हैं। कुछ आगे बढ़ते हैं और कुछ पीछे खींच लिये जाते हैं। संसार-चक्र वस्तुतः यही मार्ग-चक्र है। प्राणियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ और भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ इसी मार्ग में चढ़ने या उतरने में सहायक होती हैं। ईर्ष्या, द्वेष, मद, लोभ, मोह, काम, क्रोध, परोपकार, स्नेह, पराक्रम, उत्साह, वीरता, ज्ञानप्रियता, और इन भावों से प्रेरित हुई सहस्रों क्रियाएँ जिनको कोटियों में विभक्त करना भी आसान काम नहीं है, और जिनको कुछ शास्त्रकारों ने सात्त्विक, राजसिक, तामसिक तथा अन्यान्य अवान्तर कर्मों में विभक्त किया है, इसी अवतरण-उत्तरण की चेष्टाएँ हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, तथा मनुष्यों की ये लाखों योनियाँ अलग-अलग तथा असम्बद्ध नहीं हैं। ये एक-दूसरे से मिली हुई हैं। मृत्यु और जन्म इन योनियों के बीच के जंक्शन स्टेशन हैं। एक सिलसिला चला गया है। मार्ग की मंज़िल एक समाप्त होती है तो दूसरी आरम्भ हो जाती है। जबतक परमपद

की प्राप्ति नहीं हो जाती, यही उतरना-चढ़ना लगा रहता है। यह नहीं कि मृत्यु या जन्म के बाद ही उतार-चढ़ाव आरम्भ होता हो, एक जीवन में भी उतार-चढ़ाव का क्रम जारी रहता है। हम अपने जीवन में भली-भाँति अनुभव कर सकते हैं कि कभी हम चढ़ते मालूम होते हैं तो कभी उतरते। बहुत-से तो आत्म-परीक्षण भी नहीं करते। वे कभी प्रश्न भी नहीं सोचते कि हम चढ़ रहे हैं या उतर रहे हैं? परन्तु उनके जीवन के भिन्न-भिन्न कर्म उनको उतार वा चढ़ा अवश्य रहे हैं।

यह योनि-परिवर्तन कैसे होता है? इनकी कहानी अगले अध्याय में सुनिये—बड़ी मनोरंजक भी है और उपयोगी भी।

□

अध्याय २४

योनि-परिवर्तन

पहले तो आप शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की बनावट पर ही विचार कीजिये। आइये, किसी प्रसिद्ध डॉक्टर से पूछें—

"One of the most remarkable things in the world is a human ovum. From a single cell when fertilized, there develop myraids of cells. These cells quickly begin to defferentiate into the various tissues and organs of the body, bone, muscle, nerve, heart, liver, kidney, or into those still more wonderfully complex organs, the eye, the ear, and the brain. Moreover, the later exact colour of the eyes, of the skin—white, black, brown, etc.—alongwith other racial qualities of body and mind, straight or curly hair, Grecian, Roman, Jewish, Negro nose; the oblique Asiatic eyes, the longer arms and projecting heel of the Negro, the high cheek-bone of the American Indian. There are always symmetrical pairs of eyes, ears, nostrils, arms, legs, brain (in right and left hemispheres), lungs, kidneys, ribs, etc., but only one liver, stomach, pancreas, spleen etc. 'Why in the embryo should the little bud which is to become a human arm always develop at exactly the right place and not grow out on the front of the chest or on the back nearer the spine ? ···Why should the two arms and the two legs, always grow to virtually the same length ? Why should the human body grow for about twenty years and then stop growing ?' The only

answer is that in that tiny primordial cell were enshrined all the orderly sequences and potencies of human development."

(William W. Keen, M.D, **I believe in God and in Evolution**, p. 71)

विलियम डब्ल्यू० कीन लिखते हैं, "मनुष्य का डिम्ब संसार की सबसे विचित्र चीज़ों में से है। गर्भस्थिति के पश्चात् एक ही कोष्ठ में लाखों कोष्ठ बन जाते हैं। इन्हीं कोष्ठों में शीघ्र रचना-भेद होने लगता है और शरीर के भिन्न-भिन्न तन्तु और अंग बन जाते हैं, जैसे हड्डी, पुट्ठा, नाड़ियाँ, हृदय, यकृत, वृक्क या इससे भी विचित्र जटिल अंग जैसे आँख, कान और मस्तिष्क। यही नहीं, कुछ दिनों पीछे आँखों का रंग और चमड़े का रंग अलग-अलग होने लगते हैं जैसे सफेद, काला, भूरा आदि और उनमें शारीरिक और मानसिक जातीय विशेषताएँ भी उत्पन्न होने लगती हैं, जैसे किसी के बाल सीधे, किसी के घूँघरवाले। यूनानियों की नाक और प्रकार की, यहूदियों की और प्रकार की और नीग्रो की और प्रकार की। एशियावालों की तिरछी आँखें, नीग्रो लोगों की लम्बी भुजाएँ और निकली हुई एड़ियाँ, अमेरिका के इण्डियन लोगों के गालों की ऊँची हड्डी, फिर यह भी देखिये कि जिन अंगों से द्वन्द्व होता है वे कितने समीचीन होते हैं, जैसे—दोनों आँखें एक-सी, दोनों कान एक-से, दोनों नथने, दोनों भुजाएँ, दोनों टाँगें, मस्तिष्क के दाहिने और बायें गोलार्द्ध, फेफड़े, वृक्क, पसलियाँ इत्यादि। परन्तु यकृत एक ही, पेट एक ही, प्लीहा एक ही। प्रश्न यह है कि जिस भाग को पीछे से मनुष्य की भुजा बनना है वह अङ्ग गर्भ में सदा उसी स्थान पर क्यों बनता है और छाती के आगे या रीढ़ के पास पीछे क्यों नहीं बनता? दोनों भुजाएं और दोनों टाँगें लगभग एक ही लम्बाई की क्यों होती हैं? मनुष्य का शरीर लगभग बीस वर्ष तक ही क्यों बढ़ता है और फिर क्यों बढ़ना बन्द हो जाता है? इसका यही एक उत्तर है कि उस एक छोटे-से मौलिक कोष्ठ में मनुष्य

के विकास के सभी भावी क्रम और शक्तियाँ गुप्त रहती हैं।"

अर्थात् वह एक कोष्ठ, जिसको गर्भ कहते हैं और जिससे मनुष्य के शरीर की समस्त विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं, उन सबका कोष है और उसमें वे शक्तियाँ गुप्त हैं। यदि एक अंग्रेज़ स्त्री और एक नीग्रो स्त्री के मौलिक गर्भकोष्ठों (Primordial cell) की परीक्षा की जाय तो कोई अन्तर न मिलेगा। परन्तु उसी से उत्पन्न हुए अंग्रेज और नीग्रो के शरीर, मस्तिष्क, आचार-व्यवहार में बहुत बड़ा भेद प्रतीत होगा। इससे प्रकट है कि वह भेद अव्यक्त रूप में उन कोष्ठों में तो था, मनुष्य के पास उसके जानने के साधन ही न थे। यही नहीं, यदि एक ही स्त्री के दो गर्भकोष्ठों की परीक्षा की जाय तो उनमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, परन्तु उससे उत्पन्न हुए बच्चों में बहुत-से चरित्र-सम्बन्धी भेद होते हैं। इससे प्रकट होता है कि उन गर्भकोष्ठों में किसी आहार-व्यवहार आदि कारण से भेद हो गया।

एक और बात पर ध्यान दीजिये। एक स्त्री एक बार अंग्रेज़ से गर्भ धारण करे और दूसरी बार किसी अमेरिकन इण्डियन से तो इनके बच्चे भिन्न-भिन्न होंगे। यदि आप सोचें कि भेद कहाँ और किस समय उत्पन्न हुआ तो आपको कम-से-कम गर्भस्थिति के समय तक तो अवश्य ही जाना होगा। अंग्रेज के बच्चे में अंग्रेज़ पिता के और अमेरिकन इण्डियन के बच्चे में अमेरिकन इण्डियन पिता के चरित्र का अंश मिलेगा। इससे पता चला कि अंग्रेज का वीर्य अव्यक्त रूप से अंग्रेज़ के शारीरिक और मानसिक चरित्रों को इकट्ठा कर लेता है और रेड इण्डियन का वीर्य रेड इण्डियन के चरित्रों को, और उन्हीं को वह आगे चलकर सन्तान के रूप में व्यक्त कर देता है।

आगे चलिये, यदि एक पुरुष अपना आचार-व्यवहार तथा स्वभाव आदि बदल दे तो उसका वीर्य उस नये आचार-व्यवहार का फोटो उतारकर रख लेगा और उनको सन्तान के रूप में व्यस्त करेगा।

इससे हम यह नतीजा निकालते हैं कि न केवल मनुष्यों में, अपितु पशुओं में भी, व्यक्त से अव्यक्तीकरण और अव्यक्त से व्यक्तीकरण का व्यापार हुआ करता है। जैसे फोटोग्राफर बड़ी तसवीर को छोटी करता और छोटी को बड़ी करता है, इसी प्रकार इसको भी समझना चाहिये। यदि आचार-व्यवहार, रहन-सहन, स्वभाव आदि से परिवर्तन हुआ तो वीर्य में भी परिवर्तन होगा, रज में भी परिवर्तन होगा, और दोनों से मिलकर बने हुए गर्भकोष्ठ में भी परिवर्तन होगा। यह परिवर्तन अन्वीक्षण यंत्र से भी प्रतीत न होगा। परन्तु ज्यों-ज्यों विकास होता जायेगा, परिवर्तन भी व्यक्त होता जायेगा। माता और पिता के आचार-व्यवहार का सन्तान पर प्रभाव इसी प्रकार पड़ता है। इसलिए शास्त्र का आदेश है जैसी कि सन्तान बनाना चाहते हो वैसा तुम स्वयं बनो।

हमने यहाँ किसी प्राणी के आचार-विचार की खोज गर्भकोष्ठ तक की है, जो स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखती है। परन्तु योनि-परिवर्तन के प्रश्न को समझने के लिए हम अपने पाठकों को और सूक्ष्म मार्ग की सैर कराना चाहते हैं।

जिस प्रकार इतने बड़े शरीर और मस्तिष्क की व्यक्त विशेषताओं को अव्यक्त रूप से गर्भकोष्ठ में गुप्त कर लिया जाता है, उसी प्रकार हमारे जीवन की प्रत्येक घटना जो स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखती है, सूक्ष्म शरीर से अव्यक्त रूप में गुप्त रहती है। हमारा ज्ञान, हमारी वृत्तियाँ, हमारा स्वभाव, ये सब प्रत्येक क्षण, छन-छन अति सूक्ष्म अवस्था में सूक्ष्म शरीर को बदला करते हैं। जिस प्रकार हमारा भोजन स्थूल रूप में तो हमारे रुधिर और हड्डियों को बदलता है, परन्तु सूक्ष्म रूप से मस्तिष्क के तन्तुओं को भी बदल देता है, इसी प्रकार हमारा समस्त जीवन-सम्बन्धी व्यापार संस्कारों के रूप में सूक्ष्म शरीर को बदलता है। आप हमको लड़ते-झगड़ते, ईर्ष्या-द्वेष करते, प्रेम और परोपकार करते देखते हैं। ये सब हमारी प्रवृत्तियों के बृहत् रूप हैं, परन्तु सूक्ष्म शरीर

अपने लिए इनका सूक्ष्म फ़ोटो लेकर रखता जाता है, या यों कहिये कि इनकी वासनाएँ छन-छनकर सूक्ष्म शरीर तक पहुँचा करती हैं और सूक्ष्म शरीर में परिवर्तन किया करती हैं।

आप पूछेंगे कि इस सूक्ष्म शरीर के परिवर्तन से और योनि-परिवर्तन से क्या सम्बन्ध ? तो सुनिये और विचार कीजिये।

मनुष्य के भावों और शरीर की बनावट में सम्बन्ध है। उनका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, इसको सभी मानते हैं। यदि मनुष्य के भाव बदल जायँ तो आकृति में भी भेद पड़ जायगा। बहुत-से लोग आकृति से स्वभाव का पता लगा लेते हैं। यदि कोई मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाय या चिड़चिड़ा होने का अभ्यास करने लगे तो न केवल बाहरी आकृति में ही भेद होगा, अपितु भीतरी आकृति भी बदल जायगी और स्थूल शरीर का परिवर्तन छन-छनकर सूक्ष्म शरीर तक पहुँचेगा।

मनुष्य के भावों और पशुओं के भावों में सादृश्य है। मनुष्य भी एक पशु है। कभी वह कुत्ते के समान स्वामिभक्त, कभी भेड़िये के समान हिंसक, कभी बगुले के समान मक्कार, कभी चींटी के समान दूरदर्शी होता है। पशु भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न भाव रखते हैं। उनके भावों में अधिक भेद नहीं होता, परन्तु मनुष्य के एक ही जीवन के भिन्न-भिन्न समय के भावों में भी इतना भेद हो जाता है कि हम कह सकते हैं कि मनुष्य के भाव समस्त पशुओं के भावों की प्रदर्शिनी है। यदि आप ऐसा मनुष्य खोजना चाहें जिसकी प्रकृति क्रूर-से-क्रूर शेर के समान हो तो ऐसा मनुष्य मिल सकेगा। जिस क्रूरता से शेर भी अपने शिकार को नहीं मारता, उस क्रूरता से मनुष्य मारता है। यदि आप चाहें कि बहुत शान्त मनुष्य मिल जाय तो ऐसा भी मिल सकेगा। सारांश यह है कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी प्राणियों के स्वभावों के समान स्वभाव मनुष्य-जाति में मिलेंगे। विकासवादी कहा करते हैं कि सब प्राणियों के स्वभावों का इतिहास मनुष्य के जीवन में दुहराया जाता है। परन्तु वे यह नहीं बता सके कि दो

भाइयों के जीवन में दो भिन्न-भिन्न पशु या पक्षियों के स्वभाव क्यों दुहराए गए ? जो क्रम विकास की योनियों का बताया जाता है, वह भी शरीर की बनावट के विचार से, जैसे बन्दर के शरीर को देखकर कहते हैं कि मनुष्य पहले बन्दर था; परन्तु जिस मनुष्य की प्रकृति शेर की प्रकृति से भी अधिक क्रूर है उसका स्वभाव बन्दर के स्वभाव से निकट क्योंकर हुआ ? यह तो हो नहीं सकता कि मैं शरीर की अपेक्षा से बन्दर की योनि के निकट होऊँ और स्वभाव की अपेक्षा से शेर की योनि के निकट। मेरी धारणा है कि मनुष्य सब योनियों का केन्द्र है। मनुष्य-योनि से सभी योनियाँ निकट हैं।

इस सम्बन्ध में विकासवादी कितने अनिश्चित हैं यह बात नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी—

"The connection, if any, between man and Ape is simply that the most manlike thing in creation is the Ape, and that, in his Ascent, man probably passed through a stage when he more nearly resembled the Ape than any other known animal. Apart from that accident, Evolution owes no more to the Ape than to any other creature. Man and Ape are alike in being two of the latest terms of an infinite series each members of which has had a share in making up the genealogical tree. To single out the Ape, therefore, and use the hypothetical ralationship for theoretical purposes is, to say the least, unscientific. It is certainly the fact that man is not descended from any existing ape···For an anthropoid ape could as little develop into a man as could a man pass backwards into an anthropoid ape." (Drummond's **Ascent of Man**, p. 100)

"यदि नर और वानर में कोई सम्बन्ध है तो केवल इतना कि सृष्टि में नर से समानतम वानर है, और शायद अपने उत्थान के व्यापार में मनुष्य ऐसी अवस्था से गुज़रा जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा वानर की अवस्था के अधिक सदृश थी। इस आकस्मिक

घटना से विकास बन्दर का उतना ही अधिक ऋणी है जितना अन्य प्राणियों का। वंश-वृक्ष के बनाने में जिस अनन्त सिलसिले ने काम किया है, उसकी प्रत्येक कड़ी का ही इसके निर्माण में हाथ है और उसकी सबसे पिछली कड़ियाँ नर और वानर हैं। इसलिए केवल वानर को छाँट लेना और इस काल्पनिक सम्बन्ध को मखौल का साधन बनाना वैज्ञानिकों के लिए उचित नहीं है। यह तो ठीक ही है कि नर किसी आजकल के वानर से उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि आजकल का मनुष्य-तुल्य वानर कभी नर नहीं हो सकता और न नर लौटकर वानर हो सकता है।"

तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म शरीर के विचार से योनि-परिवर्तन तो इसी जन्म में आरम्भ हो जाता है। लोग कहा करते हैं कि अमुक पुरुष ने अपनी आदतों के कारण अपने को पशु बना लिया है। यह केवल आलंकारिक भाषा है। इसमें सचाई इतनी-सी है कि उसके पाशविक व्यवहारों की वासनाओं ने छन-छनकर उसके सूक्ष्म शरीर को मानवी सूक्ष्म शरीर से बदलकर पाशविक सूक्ष्म शरीर बना दिया है। यह सूक्ष्म शरीर जब मृत्यु के पश्चात् इस स्थूल शरीर को छोड़कर जायगा और अपनी अव्यक्त शक्तियों का व्यक्तीकरण करेगा तो पशु ही बन सकता है, अन्य नहीं। इस प्रकार यद्यपि हमारा पूरा-पूरा योनि-परिवर्तन मृत्यु के पश्चात् होगा, किन्तु उसका सूत्रपात यहीं से आरम्भ हो गया। जिस योनि में हमको मरने के पश्चात् जाना है, उसका निर्माण हम अभी कर चुके हैं।

जब यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से निकलता है तो जीवन-भर के संस्कारों की वासनाएँ अव्यक्तरूप में ले-जाता है, और उन वासनाओं को व्यक्त करने के लिए वह ऐसी सामग्री का सम्पादन करता है जिससे उसी योनि को प्राप्त हो सके। यह बात उसी प्रकार होती है जैसे चने का बीज खेत में से चने का अंश ही ग्रहण करता है, गेहूँ का नहीं। प्रकृति का नियम ही यह है कि चाहे खेत में गन्ने के अंश भी विद्यमान हों, तो भी चना उन अंशों को

कदापि न लेगा। इसी प्रकार हमने जिस योनि का सूत्रपात इस जीवन में किया है, दूसरे जन्म में हमारा सूक्ष्म शरीर उसी योनि के स्थान की तलाश करेगा, प्राकृतिक नियमों के अनुसार वहीं पहुँच जायगा।

कुछ लोगों की समझ में यह बात न आयेगी। वे स्वभावत: पूछेंगे कि जब माता-पिता गर्भ-स्थिति करते हैं तभी तो शरीर बनता है। उस सूक्ष्म शरीर से, जो मृत्यु के पश्चात् किसी स्थूल शरीर को छोड़कर आ रहा है, इस गर्भ-स्थिति से क्या सम्बन्ध है? ये दो कार्य भिन्न-भिन्न हैं। एक जीव के सूक्ष्म शरीर ने कलकत्ते में स्थूल शरीर छोड़ा। स्त्री-पुरुष के एक अन्य जोड़े ने बर्लिन में गर्भ-स्थिति के लिए प्रयत्न किया। एक को दूसरे का पता नहीं। फिर यह कैसे सम्भव होगा कि जो जीवात्मा कलकत्ते में मर गया वही बर्लिन में पैदा हो गया?

परन्तु सृष्टि-क्रम पर विचार करने से यह समझ में आ सकता है। मैं अपने स्कूल में देखता हूँ कि कभी दूरस्थ नगर से एक अजनबी विद्यार्थी आकर स्कूल में दाखिल हो जाता है। वह यहाँ सर्वथा अज्ञात है। न कोई उसको जानता है, न वह किसी को जानता है। परन्तु मुझको दो दिन के भीतर ही पता चल जाता है कि वह अच्छा है या शरीर। प्राय: देखा गया है कि यदि वह खिलाड़ी है तो सातवें दर्जे में पढ़ता हुआ भी पाँचवें और आठवें दर्जे के खिलाड़ियों के साथ मेल कर लेगा। यदि वह परिश्रमी है तो उसकी मित्रता परिश्रमी लड़कों के साथ हो जायगी। यह क्योंकर हुआ? एक अदृष्ट आकर्षण शक्ति द्वारा। उसने अपने समान विद्यार्थियों के लिए विज्ञापन नहीं निकाला, न कार्यालय के रजिस्टर देखे। परन्तु दोनों की प्रवृत्तियाँ एक-सी थीं, अत: दोनों ने एक-दूसरे को आकर्षित कर लिया। लोहे को चुम्बक खींचता है। यहाँ आकर्षण दोनों ओर से है। चुम्बक लोहे का आलिङ्गन करने को तैयार है, और लोहा भी खिच जाने का अवसर ढूँढ रहा है। ज्योंही अवसर मिला, दोनों मिल गये। स्त्री-पुरुष के जोड़े कैसे मिल

जाते हैं ? आरम्भ कहाँ से होता है ? वस्तुतः दोनों ओर से। प्राकृतिक नियम इस प्रकार का है कि दो समान प्रवृत्तिवाले मिल ही जायँ। चने के खेत में चने के परमाणु आकर्षित होने के लिए तैयार थे। वे इन्तज़ार कर रहे थे। ज्यों ही चने का बीज पहुँचा, दोनों आ मिले।

एक और दृष्टान्त लीजिये। एक नगर में भिन्न-भिन्न प्रकार की दुकानें होती हैं। हलवाई लड्डू-बर्फी बनाकर तैयार रखता है। फलवाला अमरूद-नारंगी आदि की दुकान सजाता है। एक यात्री आता है और फलों को ले लेता है। दूसरा यात्री फलों की ओर देखता भी नहीं और हलवाई की दुकान से मिठाई ले लेता है। ज़रा विचार कीजिये ! हलवाई को बर्फ़ी बनाने में कितनी तैयारी करनी पड़ी ? वह किसी घोसी को पेशगी रुपया दे रहा है कि घोसी गाय मोल लेकर उसके लिए दूध तैयार करे। किसी शक्कर-वाले को शक्कर का ठेका दे रहा है। कल्पना कीजिये कि प्रयाग में रामदत्त हलवाई की दुकान से १६ जून १६३३ को बीकानेर के यात्री तुलसीदास ने वर्फ़ी खरीदी। आप समझ सकते हैं कि रामदत्त ने वर्फ़ी बनाने की तैयारी कब से की ? छः वर्ष पहले उसने उसी स्थान पर ज़मीन मोल लेकर दुकान बनाई थी। वह समझता था कि वर्फ़ी खाने की प्रवृत्तिवाला आदमी आयेगा और मैं उसके हाथ वर्फ़ी बेचूंगा। तुलसीदास जब बीकानेर से चला तो वह भी जानता था कि कोई बर्फ़ी बनाने की प्रवृत्तिवाला आदमी बर्फ़ी बनाता होगा। इस प्रकार रामदत्त और तुलसीदास की प्रवृत्तियों में सादृश्य होने के कारण वे एक-दूसरे को खींच रहे थे। यह आकर्षण नियमों के अनुसार हो रहा था। कोई नियन्ता था जो इस सम्बन्ध के तार को हिला रहा था। वे दोनों जानते भी थे और नहीं भी जानते थे। उनको अनिश्चित ज्ञान था, निश्चित ज्ञान न था। रामदत्त जानता था कि संसार में मिठाई खाने की प्रवृत्ति के आदमी हैं। यदि वह ऐसा न जानता तो आयुभर मिठाई बनाने की शिक्षा ग्रहण करने और सामग्री एकत्रित करने में क्यों

लगता ? तुलसीदास भी जानता था कि मिठाई बनाने की प्रवृत्ति-वाले लोग उपस्थित हैं। उसने मिठाई खाने की प्रवृत्ति एक दिन में उत्पन्न नहीं की। इसके लिए उसको समय लगा। इस प्रकार दोनों को ज्ञान था, परन्तु वह अनिश्चित ज्ञान था। निश्चित रूप से वे नहीं जानते थे कि १६ जून को रामदत्त की दुकान से ही तुलसीदास बर्फ़ी लेगा। इन दोनों में आकर्षण तो था, परन्तु उस आकर्षण को सफल करना किसी अन्य नियन्ता के हाथ में था।

इसी प्रकार एक जीव अपने स्थूल शरीर में भिन्न-भिन्न गुण-कर्म-स्वभाव का निर्माण करता हुआ अपनी उपार्जित पूँजी को सूक्ष्म शरीर-रूपी बक्से में भरके एक स्थान से चलता है। उस सूक्ष्म शरीर को बनाने में उसे समस्त जीवन का समय लग गया। दूसरा जीव दूसरे स्थूल शरीर में एक ऐसा वीर्य-रूपी स्थान तैयार कर रहा है जहाँ उसी की प्रवृत्ति के समान सूक्ष्म शरीर आकर अपने विकास की सामग्री ले सके। इन दोनों में आपस में आकर्षण है। एक को दूसरे की तलाश है। दोनों को परस्पर मिला देना उस नियन्ता के हाथ में है जो गुप्त रीति से यह प्रबन्ध किया करता है।

नगरों में लोग किराये के मकान बनाया करते हैं। यह मकान भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार बनाये जाते हैं और किरायेदार अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार मकान तलाश कर लेते हैं। समाज का संगठन इसी प्रकार चलता है और सृष्टि के संगठन की समाज के संगठन से बहुत-कुछ समानता है क्योंकि समाज भी तो सृष्टि का ही अंग है।

बहुत-से लोगों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त भूलभुलैयाँ प्रतीत होता है, परन्तु ऐसे लोगों की दृष्टि स्थूल है। वे यह नहीं जानते कि सृष्टि के समस्त व्यापार ही भूलभुलैयाँ हैं। छोटे बच्चों के लिए तो नगर की चौड़ी-चौड़ी सड़कें भी भूलभुलैयाँ ही रहती हैं। वे प्राय: उसके चक्कर में आ जाते हैं। परन्तु जिसने नगर का प्लान बनाया या, जिसने उस प्लान का अध्ययन किया, उसके लिए

भूलभुलैयाँ नहीं हैं। उसके लिए तो समस्त व्यवस्था स्पष्ट है। जो लोग इस सिद्धान्त को भूलभुलैयाँ कहकर टाल देते हैं वे भिन्न-भिन्न योनियों का कोई उत्तर नहीं दे सकते। उनको मस्तिष्क लगाना पसन्द नहीं। उनको तो इतनी ही बात से सन्तोष हो जाता है कि अजी ईश्वर जाने! जिसने सृष्टि रची है वही जानता होगा। मैंने लोगों को अकबर का शे'र कहते सुना है—

हरचन्द फिलसफ़ी में चना औ चुनीं रही।
लेकिन खुदा की बात जहाँ थी वहीं रही॥

यह एक मख़ौल है उन लोगों पर, जो सृष्टि के भिन्न-भिन्न व्यापारों और प्रगतियों की जटिल समस्या पर विचार करना चाहते हैं। परन्तु मखौल करनेवाले यह नहीं समझते कि हमारा मस्तिष्क है किसलिए? यदि सृष्टि के व्यापार इतने सरल और स्पष्ट होते कि उनको असभ्य और मूर्ख-से-मूर्ख भी समझ लेता तो 'मास्तिष्किक विकास' या 'मानसिक उन्नति' आदि शब्द न होते और मनुष्यों और पशुओं में कोई भेद न होता। पशुओं के व्यापार भी ऐसे जटिल हैं जैसे मनुष्यों के, परन्तु मनुष्य अपने तथा पशुओं दोनों के ही व्यापारों की जटिलता को सुलझाने का प्रयत्न करता है और पशु नहीं। केवल इतने से ही सन्तोष नहीं करलेना चाहिये कि ईश्वर जानता होगा। जहाँ ईश्वर की सृष्टि जटिल है वहाँ ईश्वर ने मनुष्य को उस जटिलता के समझने की प्रवृत्ति और योग्यता भी दी है।

□

अध्याय २५

आधुनिक विकासवाद और योनि-परिवर्तन

योनि-परिवर्तन अर्थात् पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी विकासवाद ही है जैसाकि हम पिछले अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं। परन्तु आधुनिक विकासवाद और इस सिद्धान्त में कुछ भेद है।

आधुनिक विकासवाद ने, जिसका कई अर्थों में डार्विन को पिता कहना चाहिये, मनुष्य-जाति की एक बड़ी सेवा की है, अर्थात् उसने पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों का मनुष्यों से सम्बन्ध जोड़ दिया है। इससे पहले, और कोई अब भी पुनर्जन्मवादियों से ठट्ठा किया करते थे। वे कहते थे कि क्या हम पशु थे? क्या पशु हो सकते हैं? यह शाब्दिक घृणा अब कम हो जानी चाहिये क्योंकि डार्विन के कथनानुसार हम यदि पशु नहीं तो पशुओं की सन्तान तो अवश्य हैं। आजकल के वैज्ञानिक पशुओं को अपना पूर्वज कहते हुए सकुचाते नहीं। 'हमारे बागों में रहनेवाले पूर्वज' (Our arboreal ancestors) एक प्रचलित वाक्य हो गया है।

आधुनिक विकासवादी योनि-परिवर्तन की किस प्रकार व्याख्या करते हैं? उनका कथन है कि आरम्भिक अमीबा से, जिसमें केवल एक कोष्ठ (cell) होता है, भेद करते-करते योनि-परिवर्तन (Differentiation of species) हो गया। वह किस तरह? प्राकृतिक निर्वचन (Natural Selection) द्वारा। प्राकृतिक निर्वचन का क्या अर्थ? इसका सबसे उत्तम और सरल विवेचन ड्रमण्ड महोदय लिखित 'मनुष्य का उत्थान' में मिलेगा। कल्पना

कीजिए कि आप एक घर में रहते हैं। पहले आप अकेले थे, आपकी आवश्यकताएँ भी कम थीं। इसलिए आपने केवल एक कमरे का ही घर बनवाया। उसी में खाते, उसी में सोते। जब आपने कुछ उन्नति की, आवश्यकताएँ बढ़ीं। इस कारण आपने एक कमरे के दो कमरे कर लिये। या तो बीच में परदा दे दिया, या दूसरा कमरा बना लिया। इस प्रकार दस कमरों का घर हो गया। अब आवश्यकताएँ घटीं भी और बढ़ीं भी। इस प्रकार कमरों में कमी और बढ़ती होती गई, और आज सैकड़ों प्रकार के मकान दिखाई दे रहे हैं। इसी प्रकार एक कोष्ठ से आवश्यकतानुसार अनेक कोष्ठ होते गये और आवश्यकता की कमी या बढ़ती से कोष्ठों में भी न्यूनाधिक्य होते-होते combination और permutation के हिसाब से असंख्य योनियाँ बन गयीं। यह है विकासवाद की योनि-भेद की व्याख्या।

मनुष्य की रीढ़ की हड्डी से नीचे एक ऐसा स्थान है जो पूँछ की जड़ समझी जाती है। इसी स्थान पर बन्दरों के शरीर में पूँछ होती है। विकासवादी कहते हैं कि जब बन्दर बाग़ों में रहते थे तो उनको उस पूँछ की आवश्यकता पड़ती थी। होते-होते यह आवश्यकता कम हो गई। इस प्रकार छोटी पूँछ के बन्दरों की योनि बन गई। यह आवश्यकता सर्वथा नष्ट हो गई तो पूँछ बिल्कुल जाती रही और वानर से नर हो गया। इसकी व्याख्या के लिए दो दृष्टान्त लीजिये—

कल्पना कीजिये कि मैं तमाखू पीता था। मुझे तमाखू की थैली अपने साथ-साथ रखनी पड़ती थी। उसके लिए मैंने अपने कुर्ते में जेब बनाई। मेरे सभी साथी उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुर्तों में जेब लगाने लगे। होते-होते तमाखू पीना छूट गया। कुछ दिनों तक जेब फ़ैशन-प्रथा की रीति से लगती रही। फिर लोगों ने आवश्यक समझकर बेजेब का कुर्ता बनाना आरम्भ कर दिया। यही हाल पूँछवाले वानर और बेपूँछवाले नर का है।

कल्पना कीजिये कि मैं मूर्ति-पूजक था। मेरे घर में एक छोटा-

सा देवालय था जिसमें इष्टदेव की मूर्ति रहा करती थी। मेरी सन्तान भी अपने घरों में एक देवालय बनाने लगी। होते-होते मूर्तिपूजा छूट गई। मेरे पौत्रों ने अनावश्यक समझकर देवालय बनाना छोड़ दिया और बिना देवालय के ही मकान बनाने लग गए। वानर की पूंछ होने और नर के बेपूंछ होने का यही कारण है।

परन्तु विकासवादी इस युक्ति को भौतिक सीमा तक ही ले-जाते हैं, आगे नहीं बढ़ते। पुनर्जन्मवादी इसको आगे बढ़ाते हैं। वे स्थूल शरीर के वीर्यकणों से आरम्भ नहीं करते। वे पीछे चलकर सूक्ष्म शरीर से आरम्भ करते हैं। यदि आवश्यकता और प्रवृत्ति के भेद के कारण शरीर की रचना में भेद होता है, तो उस स्थान से होना चाहिये जहाँ प्रवृत्तियों का कोष है। प्रवृत्तियाँ अभौतिक और सूक्ष्म हैं, अतः इनका कोष भी अभौतिक और सूक्ष्म होना चाहिये। प्रवृत्तियाँ स्थूल शरीर के ज्ञान-तन्तुओं में होकर छनती हैं, परन्तु वहाँ रह नहीं जातीं। उनका कोष तो सूक्ष्म शरीर ही है जो स्थूल-इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं। कुर्ते की तमाखू की जेब की आवश्यकता या अनावश्यकता कुर्ते को ज्ञात नहीं, वह पहननेवाले को ज्ञात है। जेब की अनावश्यकता का चिह्न पहननेवाले के मस्तिष्क में मिलेगा, कुर्ते में नहीं। इसी प्रकार प्राकृतिक निर्वचन (Natural Selection) का नियम सूक्ष्म शरीर से मिलेगा, क्योंकि प्रेरणा वहीं से आरम्भ होगी।

आधुनिक विकासवाद की मुख्य कमी यह है कि वह केवल भौतिक विकास की व्याख्या करता है। उसका आत्मवाद से कोई प्रयोजन नहीं। यह बात एक प्रयोजन के लिए अच्छी भी थी, अर्थात् डार्विन और उसके अनुयायी एकाग्रचित होकर भौतिक नियमों की परीक्षा कर सके, और उस अन्धविश्वास से बचे रहे जो डार्विन के सहयोगी आत्मवादियों में फैला हुआ था और जिसके कारण वे 'ईश्वर जाने' की रट लगाए हुए किसी परीक्षण के करने का उत्साह न लेते थे। परन्तु जब इन विकासवादियों ने जीवन की

समस्त जटिल समस्या को केवल भौतिक विज्ञान के ग्राधार पर हल करने का ठेका ले लिया, तो उनकी व्याख्या अधूरी रह गई। भौतिक और रसायन के शुष्क नियम जीवन की समस्या को हल नहीं कर सकते। यह बात हमने इस पुस्तक में कई स्थानों पर सिद्ध की है, और विकासबादियों को भी बहुत जल्द इस बात का अनुभव हो गया था। डार्विन के सहयोगी आल्फ्रेड रसेल वालेस ने अपनी पुस्तक 'जीवन जगत्'[1] (The World of Life) की भूमिका में स्पष्ट लिखा है—

"……the most prominent feature of my book is that I enter into a popular, yet critical examination of those underlying fundamental problems which Darwin purposely excluded from his work as being beyond the scope of his enquiry. Such are the nature and causes of life itself; and more especially of it most fundamental and mysterious powers—growth and reproduction."

"मेरी पुस्तक की एक बड़ी विशेषता यह है कि मैंने उन मौलिक नियमों की सरल परन्तु गम्भीर परीक्षा की है जिनको डार्विन ने तो अपने परीक्षण-क्षेत्र के बाहर समझकर जान-बूझके अपने ग्रन्थों में नहीं लिखा, अर्थात् जीवन का स्वरूप और उसके कारण और विशेषकर जीवन की रहस्यमय शक्तियाँ जैसे संवृद्धि और सन्तति-प्रजनन।"

वालेस ने दो शक्तियों का उल्लेख किया है—एक संवृद्धि (Growth) और दूसरी सन्तति-प्रजनन (Reproduction)। प्रत्येक प्राणी में ये दो शक्तियाँ पाई जाती हैं।

ड्रमण्ड भी लिखता है कि—

"The functions discharged by all living things, plant and animal, are two in number. The first is Nutrition, the second is Reproduction. The first is the basis of the struggle for life, the second of the struggle for the life of others. These two functions run their parallel course

or spiral course, for they continuously interwine from the dawn of life." (The Ascent of Man, p. 17)

"क्या वनस्पति और क्या पशु, सभी जीवित शरीरों के दो कर्त्तव्य हैं—पहला संवृद्धि, दूसरा सन्तति-प्रजनन। पहला काम अपने जीवन के लिए परिश्रम का आधार है, दूसरा दूसरों के जीवन के लिए परिश्रम का आधार है। ये दोनों कर्त्तव्य जीवन के आरम्भ से ही लगातार लिपटे हुए समानान्तर चलते हैं।"

यह ठीक भी है। हम जो खाना खाते हैं, उसका अन्त में वीर्य बनता है। यह वीर्य दो काम करता है—एक तो हमारे शरीर की पुष्टि का साधन होता है; दूसरे, हमारी संतति के शरीर की पुष्टि का।

यह हुई भौतिक सीमा। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इस भौतिक शरीर द्वारा दो काम जारी रहेंगे,—हमारी प्रगतियाँ और प्रवृत्तियाँ हमारा सूक्ष्म शरीर भी बनायेंगी और हमारी सन्तान के शरीर के लिए उचित और सुसंस्कृत शरीर का भी सम्पादन करेंगी। हम घर बनाते हैं न केवल अपने लिए, न केवल अपनी सन्तान के लिए, किन्तु दोनों के लिए। आधुनिक विकासवाद पहली बात अर्थात् आत्म-विकास को छोड़ देता है और पिछली बात अर्थात् संतति-विकास को ले लेता है। वह चूँकि शरीर से इतर आत्मा को नहीं मानता, इसलिए वह समझता है कि ज्यों ही एक शरीर ने सन्तति-प्रजनन का कार्य कर लिया त्यों ही उसका समस्त कर्त्तव्य पूरा हो गया। वह यह परवाह नहीं करता कि मृत्यु के पश्चात् उस शरीर के भीतर जो आत्मा है उसका क्या होगा। इस समस्या को हल करने का यत्न नहीं करता कि हमारा जीवन न केवल संतति के लिए है अपितु आत्म-विकास के लिए भी। इसलिए उसका दृष्टिकोण अन्त तक एकान्तिक अर्थात् इकतरफ़ा रहता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इन दोनों पक्षों पर भली-भाँति विचार करता है और उसका पूरा हाल पेश करता है। इसमें शारीरिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास का समावेश है। पुनर्जन्मवादी

जानते हैं कि शरीर से शरीर उत्पन्न होता है, शरीर से आत्मा उत्पन्न नहीं होता, इसलिए मेरा शरीर भी मेरी सन्तान के लिए शरीर की सामग्री ही सम्पादित कर सकता है, परन्तु मेरी संतान का आत्मा नहीं बना सकता। यह आत्मा तो अपनी प्रवृत्तियों का विकास करके स्वयं कहीं से आएगा। ड्रमण्ड ने ऊपर के उद्धरण में दो परिश्रमों या संघर्षों (Struggles) का उल्लेख किया है—एक 'अपने' जीवन के लिए और दूसरा 'अन्यों' के जीवन के लिए। परन्तु न ड्रमण्ड ने और न अन्य विकासवादियों ने यह देखने का यत्न किया कि ये 'अन्य' हैं कौन और कहाँ रहते तथा कहाँ से आते हैं ?

विकासवादी समझता है कि माता ने जिस बच्चे को जन्म दिया, उस बच्चे का अस्तित्व माता से पहले कहीं नहीं था। मानो शरीर तथा आत्मा दोनों उसी माता से उत्पन्न हुए। न वह यह जानने का यत्न करता है कि बच्चे की उत्पत्ति के बाद माता का अस्तित्व रहेगा या नहीं, या मरने के बाद माता रहेगी या नहीं।

पुनर्जन्मवादी कहता है कि माता ने अपने शरीर से बच्चे के शरीर-मात्र को उत्पन्न किया है; बच्चे का आत्मा पहले था, उसकी प्रवृत्तियाँ पहले थीं। उन प्रवृत्तियों के विकास के लिए माता ने केवल क्षेत्र तैयार किया है। इसके अतिरिक्त माता अपने अस्तित्व को खो नहीं देती। उसका अपना आत्म-विकास भी जारी रहता है। या, यों कहना चाहिये कि सन्तति-प्रजनन की क्रिया भी माता के विकास का एक अंग है। माता जब बच्चे को पालती है और उसके लिए कष्ट सहती है तो इस परोपकार और मातृस्नेह से माता का भी आत्म-विकास होता है।

शायद यहाँ किसी को ऐसा सन्देह हो कि विकासवाद के अनुसार तो हम वीर्य के शरीर का निर्माण देख सकते हैं, परन्तु पुनर्जन्मवाद के अनुसार यह समझ में नहीं आता कि स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर कैसे बनेगा और सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर कैसे ?

इसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि विकास की पुस्तक का आरम्भिक पृष्ठ न तो विकासवादियों के लिए ही 'हाथ में आँवले' के समान स्पष्ट दीखता है और न पुनर्जन्मवादियों के लिए। परोक्ष विषय तो परोक्ष ही है, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। हाँ, हम केवल उस अवस्था से इधर प्रत्यक्ष कर सकते हैं जब अव्यक्त हो जाता है। यह बात तो सभी को मान्य है कि एक सीमा के आगे विकास-क्रिया के परीक्षण के कोई भौतिक साधन नहीं हैं। ड्रमण्ड का उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा—

"The embryo of the future man begins life, like the primitive savage in a one-roomed but a single simple cell. This cell is sound, and almost microscopic in size. When fully formed, it measures only one-tenth of a line in diameter, and with the naked eye can be barely discerned as a very fine point. An outer covering, transparent as glasses, surrounds this little sphere, and, in the interior, embedded in protoplasm, lies a bright globular spot. In form, in size, in composition there is no apparent difference between the human cell and that of any other mammal. The dog, the elephant, the lion, the ape, and a thousand others begin their widely different lives in a house the same as man's. At an earlier stage indeed, before it has taken on its pellucid covering, the cell has *affinities* still more astonishing. For at that remoter period the earlier forms of all living things, both plant and animal are one. It is one of the most astounding facts of modern science that the first embryonic abodes of moss, and fern and pine, of shark and crab ond coral polyp, lizard, leopard, monkey, and man are so exactly similar *that the highest powers of mind and microscope fail to trace the smallest distinction between them.*" **(The Ascent of Man**, p. 79**)**

"भावी मनुष्य का गर्भ एक कोष्ठ का होता है जैसे जंगली मनुष्य का घर। यह कोष्ठ अकेला और सरल होता है। यह कोष्ठ गोल और अत्यन्त लघु होता है। पूरा बढ़ जाने पर भी उसका व्यास एक रेखा के दसवें भाग के बराबर होता है और खाली आँख से कठिनाई से दीखता है जैसाकि एक बहुत सूक्ष्म बिन्दु। इस छोटे गोले के चारों ओर शीशे के समान पारदर्शक खोल होता है और भीतर गर्भ में एक चमकीला गोल बिन्दु होता है। आकृति, परिमाण तथा रचना में मनुष्य के कोष्ठ और किसी अन्य दूध पिलानेवाले जन्तु के कोष्ठ में कोई भेद नहीं होता। कुत्ता, हाथी, शेर, वानर और सहस्रों ऐसे ही प्राणी जो परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार के घर से आरम्भ करते हैं जैसे मनुष्य। इससे भी पहली अवस्था में, जबतक कि इसका यह खोल नहीं बनता, इस कोष्ठ में और भी अधिक आश्चर्यजनक प्रवृत्तियाँ होती हैं क्योंकि उस दूरस्थ युग में वनस्पति और पशु दोनों का जीवन एक-सा होता है। आधुनिक विज्ञान की सबसे आश्चर्य-जनक खोज यह है कि मॉस, फ़र्न, चीड़ आदि वनस्पतियों के और मच्छर, केकड़ा और मूँगे के तथा चीता, बन्दर और आदमी के गर्भ की आरम्भिक अवस्थाएँ इतनी समान होती हैं कि मस्तिष्क और अन्वीक्षण यंत्र की महान्-से-महान् शक्तियाँ उनमें थोड़ा-सा भेद भी नहीं निकाल सकतीं।"

प्रश्न यह है कि इतने समान कोष्ठों से आगे चलकर भिन्नता क्योंकर उत्पन्न हो जाती है? साधारणतया किसी से कहा जाय कि डिम्ब और उस डिम्ब में जिसने हर्बर्ट स्पैंसर या डार्विन को उत्पन्न किया, कोई भेद नहीं है, तो उसे विश्वास नहीं होगा। क्योंकि, प्रथम तो हर्बर्ट स्पैंसर के मस्तिष्क और साधारण मनुष्य के मस्तिष्क में बड़ा अन्तर है। फिर मनुष्य और केकड़े में तो कोई समानता ही नहीं है। परन्तु वस्तुतः, उन कोष्ठों में सभी भिन्नताएँ उपस्थित थीं, केवल इन्द्रियगोचर या यंत्रगोचर न थीं। यदि भिन्नताएँ न होतीं तो पीछे से कैसे उत्पन्न हो जातीं?

गर्भ-कोष्ठों की ये भिन्नताएँ आईं कहाँ से ? विकासवाद कहेगा 'माता-पिता से', परन्तु इतना पर्याप्त नहीं है। बहुत-सी बातें हैं जो माता-पिता से नहीं आतीं। माता-पिता केवल क्षेत्र का काम करते हैं। किसी खेत में दो आम बो दिये जायँ। एक कुछ खट्टा हो और एक मीठा, तो आप कहेंगे—खेत तो एक ही था, गुठलियों में भेद होगा। इसी प्रकार जब कभी सन्तान में माता-पिता से कुछ भेद हो जाता है, तो विकासवादी सहस्रों पीढ़ियों पहले की कल्पित पाशविक श्रेणियों (Hypothetical animal ancestory) की खोज करने लगते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन प्रवृत्तियाँ कभी-कभी जाग्रत् हो जाती हैं। परन्तु उनके पास इसका कोई समाधान नहीं है कि यह कैसे होता है ? इसका समाधान तो पुनर्जन्म के ही पास है, क्योंकि वह इतनी दूर न जाकर इससे ठीक पहली अवस्था से ही उसका समाधान कर देता है।

इसका एक उदाहरण लीजिये—कुछ ऐसे बच्चे पाये गये हैं जिनके थोड़ी-सी पूँछ थी। पहली मार्च १८८९ के 'ला नेचरलिस्ट' (La Naturalist) पत्र में १२ वर्ष के लड़के का फ़ोटो दिया था। इसके दस इंच लम्बी पूँछ बताई गई। कहते हैं कि आज तक इतनी बड़ी पूँछ का कोई मनुष्य पाया नहीं गया। यह पूँछ कहाँ से आई ? उसके पिता-माता में या उनकी सैकड़ों पीढ़ियों पहले पूँछ का चिह्न नहीं मिलता। विकासवादियों का कहना है कि मनुष्य की उत्पत्ति बन्दर से है। यह बन्दर की पूँछ है जो अबतक अव्यक्त थी, और किसी कारण व्यक्त हो गई। यदि सूक्ष्म शरीर का सिद्धान्त न मानें तो प्रश्न होगा कि यह कहाँ अव्यक्त थी ? वह कौन-सा कोश था जहाँ यह प्रकृति जमा थी ? आवश्यकता और प्राकृतिक निर्वचन (Natural Selection) तो काम कर चुके और उन्होंने पूँछ को अनावश्यक समझकर त्याग दिया, अब वह कहाँ से आ गई ? पुनर्जन्म इस घटना का इस प्रकार समाधान करेगा कि सम्भव है यह बच्चा पहले जन्म में बन्दर रहा होगा और उसमें पूँछ का प्रयोग करने की प्रवृति इतनी तीव्र रही हो कि सूक्ष्म शरीर की

वासनाओं ने विकास के समय पूँछ की आकृति का कुछ अंग बना दिया हो। यह बात साधारणतया तो होती नहीं। अरबों मनुष्यों में शायद एक ऐसा उदाहरण मिल जाता है।

यदि वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण बदल जाय तो बहुत-से ऐसे अन्वेषण हो सकते हैं जिनसे इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ सके।

□

अध्याय २६

एक शरीर में अनेक आत्मा

बहुधा यह प्रश्न किया जाता है कि क्या एक शरीर में कई आत्मा रह सकते हैं? आजकल पाश्चात्य देशों में आत्मवाद या स्पिरिच्युज़िलम नामक एक सम्प्रदाय चल पड़ा है जो भूत, जिन, परी, देवता आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के आत्माओं के विचित्र कृत्यों का उल्लेख तथा व्याख्यान करता है। इसका वास्तविक रूप क्या है, यह कहना कठिन है।

यदि प्रश्न को कुछ बदल दिया जाय और यह पूछा जाय कि एक शरीर में अन्य शरीर रह सकते हैं या नहीं? तो प्रश्न बड़ा सुगम और स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि बच्चों के सिर में सैकड़ों जुएँ रहती हैं। शरीर के भीतर भी अनेकों कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। फिर कीटाणुओं की तो कथा ही न्यारी है—ज्वर के कीटाणु, हैज़े के कीटाणु, प्लेग के कीटाणु। मनुष्य के एक शरीर में सैकड़ों आत्मा इस प्रकार रहा करते हैं जैसे एक नगर में बहुत-से मनुष्य।

परन्तु, इस उत्तर से प्रश्न हल नहीं होता। आप कहेंगे कि इस प्रकार आत्माओं से हमारा तात्पर्य नहीं है।

शास्त्रों में दो प्रकार के जीव माने गये हैं--एक अभिमानी और दूसरे अनुशयी। अनुशयी वे हैं जो दूसरे शरीर के आश्रित रहते हैं परन्तु वह शरीर उनका शरीर नहीं होता, जैसे जूं। यदि मेरे सिर में जूँ रही है तो वह न मेरे कानों से सुन सकती है, न मेरी आँखों से देख सकती है। अभिमानी जीव वह है जिसमें और शरीरविशेष में शरीर का सम्बन्ध हो।

प्रश्न यह है कि क्या एक शरीर में कई अभिमानी जीव रह सकते हैं ?

एक महाशय कहते हैं कि यदि शरीर और जीव दो अलग-अलग पदार्थ हैं तो एक शरीर में कई जीव भी रह सकते हैं, जैसे एक मकान में कई मनुष्य या एक शरीर में दो भिन्न-भिन्न समयों में दो जीव।

जो लोग जीव को ज्ञानधारा-(Stream of consiousness)-मात्र मानते हैं, उनके लिए तो इस प्रश्न की मीमांसा की कोई आवश्यकता नहीं। उनके मत में जीव कोई स्थायी पदार्थ तो है नहीं, केवल चेतना के सिलसिले का नाम जीव है। एक चेतना जाती है और दूसरी उसके स्थान पर आ जाती है। जैसे नदी बहती है तो एक जल-बिन्दु गया और झट उसके स्थान में दूसरा जलबिन्दु आ गया। यह प्रवाह जारी है, परन्तु वही जल नहीं है जो पहले बह गया। इसी प्रकार चेतना का प्रवाह है, जो निरन्तर जारी है। जब चेतनाएँ अलग-अलग हुईं तो यह कहना कि वे एक हैं या कई, कुछ अर्थ नहीं रखता।

यदि कहो कि चेतना के भिन्न-भिन्न भागों में ऐक्य होना चाहिये, तभी उसका नाम आत्मा होगा, तो एक शरीर में अनेक आत्माएँ माननी ही पड़ेंगी। जॉन लेअर्ड कहते हैं—

"If we maintain that a Self must contain a very high degree of unity, then shall be forced to the unpleasant conclusion that multiple personality, instead of being the exception is the rule. We are different men at different stages of life, and although the continuous stage may show unity and continuity, the remote stages hardly do so at all." (**Problems of the Self,** by John Laird, p. 302)

अर्थात्—"यदि आत्मा का यही अर्थ है कि एक उत्कृष्ट मात्रा में ऐक्य हो तो हमको इस अप्रिय परिणाम पर पहुँचना पड़ेगा कि आत्माओं की अनेकता अपवाद नहीं, किन्तु साधारण नियम है। हम अपने जीवन के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न होते हैं।

एक-दूसरे के पश्चात् आनेवाली अवस्थाओं में ऐक्य और निरन्तरता होगी, परन्तु जो अवस्थाएँ बहुत समय के पश्चात् आती हैं उनमें कोई ऐक्य नहीं होता।

परन्तु प्रश्न-कर्त्ता इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं है। वह कहता है कि आत्माओं की इस प्रकार की अनेकता से मेरा तात्पर्य नहीं। मैं पहले बालक था, अब वृद्ध हूँ तो इसमें केवल अवस्था-भेद है। मैं वही हूँ जो पहले था। मुझे प्रतीत भी ऐसा होता है। मैं कहता हूँ कि जब मैं बालक था तब मेरे गुरु जी ने मुझे अमुक बात सिखाई थी। इससे प्रतीत होता है कि मुझे 'मैं' होने का ज्ञान है। मैं बालकपन के लिए 'मैं' का प्रयोग करता हूँ। सम्भव है मुझे बालकपन की स्मृति न हो, परन्तु स्मृति से कुछ नहीं। मुझे अपनी बहुत-सी पिछली अवस्थाओं की स्मृति नहीं है, परन्तु मैं उनके होने में सन्देह नहीं करता। मैं जानता हूँ कि मैं वही हूँ। यह मेरी ही अवस्था थी।

लेअर्ड कहते हैं—

"A self might be a self without any explicit memory." (p. 280)

"बिना स्मृति के भी आत्मा हो सकता है।"

परन्तु,

"Does not logically imply that is possible for a self to exist in the absence of any memory." (p. 280)

"स्मृति का अभाव आत्मा के अस्तित्व की अच्छी युक्ति नहीं है।"

तात्पर्य यह है कि स्मृति के अभाव से अपने अस्तित्व के भाव और अभाव दोनों का ही प्रमाण मिलता है। इसलिए स्मृति के प्रश्न को उठाना नहीं चाहिये।

साधारणतया तो एक शरीर में एक ही आत्मा होता है, सब यही मानते हैं। जब कचहरी में एक मनुष्य के अंगूठे का निशान

उसके अंगूठे से मिल जाता है तो यही निश्चय होता है कि इस काग़ज़ को तुम्हीं ने लिखा है क्योंकि तुम्हारे ही अंगूठे का निशान है। यदि वह कहे कि अंगूठा तो वही है परन्तु जिस समय अंगूठे का निशान बनाया गया था उस समय इस शरीर में मैं नहीं रहता था, कोई और आत्मा रहता होगा, उसी ने यह रुपया उधार लिया होगा, तो न्यायाधीश कभी इस युक्ति को स्वीकार न करेगा। वृद्धा माँ अपने पुत्र के मुख की आकृति को देखकर दीर्घकाल के पश्चात् भी पहचान लेती है कि वह उसका ही बच्चा है। कभी-कभी मुख की आकृति बदल जाने पर भी कुछ-न-कुछ समानता देखकर पहचान लेती है। यदि प्राय: ऐसा नियम हो जाए कि एक शरीर में अनेक आत्माएँ रहने लगें, या वे अपने शरीरों को उसी प्रकार बदला करें जैसे लोग अपने किराये के मकानों को बदला करते हैं, तो जगत् के व्यवहार में उथल-पुथल हो जाय और संसार का कोई काम न चले। जब हम किसी को देखें तो पहले उससे पूछें—'क्यों जी, क्या प्रमाण है कि तुम वही हो जो पहले थे ?' स्कूलों में अध्यापक लोग लड़कों की हाज़िरी ले लिया करते हैं। यदि शरीरों में आत्म-परिवर्तन हुआ करे तो केवल 'हाज़िरी लेना' पर्याप्त न हो, और न जाने क्या करना पड़ जाय ! सौभाग्य की बात है कि ऐसा नहीं होता। सब लोग इसी बात पर विश्वास करते हैं कि एक शरीर में एक ही आत्मा रहता है।

परन्तु कुछ जादूगर, कुछ डॉक्टर, कुछ स्पिरिच्युलिस्ट, कुछ दार्शनिक तथा कुछ वे लोग जो ओझा या स्याने का काम करते हैं, यह कहते हैं कि कभी-कभी एक शरीर में दूसरे आत्मा भी आ जाते हैं। जैसे कोई मनुष्य मर गया, वह दूसरे मनुष्य के सिर आ जाता है और कहता है कि मुझे अमुक प्रकार से सन्तुष्ट कर दो, नहीं तो मैं इस पुरुष को नष्ट कर दूँगा। जब ओझा कुछ कृत्य कर देता है तो वह दूसरा आत्मा उस शरीर को छोड़कर भाग जाता है और वह मनुष्य जिसके सिर यह आत्मा आया था, चंगा हो जाता है। गाँवों में ऐसे दृश्य नित्य ही हुआ करते हैं। किसी को ज्वर आया,

या आँखों में दर्द हुआ, या और कोई रोग हुआ, तो झट स्याने लोग कह देते हैं कि इसपर अमुक पुरुष या अमुक देव आ गया है और इसका प्रतिकार इस प्रकार होगा। नगरों में जहाँ डॉक्टरों का इलाज करने की प्रथा अधिक है, इस प्रकार की घटनाएँ कम हो गई हैं। मुझे स्वयं अपने परिवार का अनुभव है। मेरे बाल्यकाल में कोई-न-कोई घटना मेरे घर में हुआ ही करती थी और गाँव का एक काछी, जो स्याने का काम करता था, नित्य कुछ-न-कुछ बताया करता था। परन्तु अब प्रायः तीस वर्ष से अधिक समय हो गया, मेरे परिवार के किसी व्यक्ति के शरीर में अन्य आत्मा ने आने का कष्ट नहीं उठाया। यह क्यों? इसका उत्तर क्या दिया जाय? मुझे ऐसे ही बीसियों अन्य परिवारों का ज्ञान है।

परन्तु कुछ डॉक्टरों का स्वयं अनुभव ऐसा है। सम्भव है कि जादूगरों और स्यानों की चालाकी रही हो। परन्तु जब विश्वसनीय डॉक्टरों ने भली-भाँति परीक्षा करके देख लिया कि यह वही आत्मा नहीं है जो पहले था, तो एक शरीर में कई आत्माओं का आना मानना ही पड़ेगा। हम नीचे कुछ उदाहरण देते हैं—

(१) एक लड़की मिस बोचैम्प (Miss Beauchamp) की परीक्षा डॉक्टर मॉर्टन प्रिंस (Dr. Morton Prince) ने की थी। इस लड़की की दशा कभी-कभी विचित्र हो जाती थी, या यों कहना चाहिये कि उस शरीर में से वोचैम्प चली जाती थी और सैली (Sally) आ जाती थी। यह सैली परिवारवालों को बहुत तंग करती थी और कई ऐसी बातें कर बैठती या पत्र लिख देती थी जिनकी आशा मिस बोचैम्प से नहीं की जा सकती थी। जब सैली शरीर छोड़कर चली जाती और वोचैम्प आ जाती तो उसका व्यवहार पूर्ववत् हो जाता। यदि उससे पूछा जाता कि तुमने अमुक कार्य किया या अमुक पत्र लिखा तो वह कहती, मैंने नहीं किया।

(२) रेवरेंड एन्सिल बोर्न (Rev. Ansel Bourne) नाम का एक ईसाई प्रचारक था। वह अपने पूर्व-अस्तित्व को सर्वथा भूल गया और ए० जे० ब्रौन (A. J. Brown) के नाम से एक हलवाई

की दुकान पर नौकरी करने लगा। कुछ दिनों पश्चात् यह फिर रेवरेंड बोर्न बन गया और प्रचारक का काम करने लगा। उस समय उसे हलवाई की दुकान पर काम करने की कोई घटना याद न रही। इससे प्रतीत होता है कि ब्रौन का दूसरा आत्मा था।

(३) पीरी लैम्बर्ट (Pere Lambert) नामक एक सिपाही आस्टरलिट्ज़ के युद्ध में घायल हो गया। उसको विश्वास हो गया कि मैं मर गया हूँ। जब कोई उससे पूछता कि 'तुम कैसे हो?' तो उत्तर देता 'क्या तुम पीरी लैम्बर्ट का हाल पूछते हो? वह तो मर गया। उसके गोला लग गया था। वह अब नहीं है। वह उसी के समान एक दूसरी कल है।'

इसके अतिरिक्त कहानियों तथा उपन्यासों में तो अनेक ऐसे उदाहरण आते हैं जिनमें शरीर-परिवर्तन या आत्म-परिवर्तन का उल्लेख है।

यहाँ दो प्रश्न हैं—एक तो यह कि जिन्होंने इन घटनाओं का निरीक्षण किया है उनसे कोई भूल तो नहीं हो गई? क्योंकि जिसको एक गाँव का स्याना 'मृत आत्मा का सिर आना' बताता है, उसी को डॉक्टर या वैद्य रोग बताते हैं। यहाँ लैम्बर्ट का जो उदाहरण दिया गया है उससे तो दूसरे आत्मा का पता नहीं लगता। यदि दूसरा आत्मा होता तो यह क्यों कहता कि लैम्बर्ट नहीं है, वह तो मर गया? प्रतीत होता है कि घायल होते समय उसके मस्तिष्क में कोई विकार हो गया और इस कारण उसे ऐसा विश्वास हो गया कि वह मर गया। लोग स्वप्न में बहुधा अपना सिर कटा देखते हैं। कोई अपने सिर को कटा देख नहीं सकता, परन्तु दूसरे के कटे हुए सिर में अपने सिर की कल्पना हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि कभी-कभी हमारी अवस्था ऐसी परिवर्तित हो जाती है कि पुरानी बातें बिल्कुल भूल जाते हैं, या जो बातें बहुत दिनों से भूले हुए थे वे फिर याद आ जाती हैं। इससे आत्म-परिवर्तन तो सिद्ध नहीं होता? प्रश्न यह है कि

जिनको दो आत्माएँ कहा जाता है उनमें कुछ सादृश्य भी है या नहीं ? जैसे, मिस बोचैम्प जब सैली बन गई तो क्या उसके हस्ताक्षर एक-से थे ? क्या उसकी आवाज़ एक-सी थी ? क्या उसकी चालढाल एक-सी थी ? रेवरेंड बोर्न और ब्रौन की तो इन सब बातों की परीक्षा की नहीं गई । ईश्वर जाने इस सबमें क्या रहस्य हो या मस्तिष्क में ही कोई ऐसा विकार हो गया जिससे स्मृतियाँ सर्वथा लुप्त हो गई हों। परन्तु मिस बोचैम्प की परीक्षा करने में भी बहुत-सी बातें छूट सकती हैं । ये परीक्षाएँ अधिकतर परीक्षकों के दृष्टिकोण या उनकी प्रवृत्तियों के आश्रित होती हैं और कई परिस्थितियों में पर्याप्त रूप से परीक्षण भी सम्भव नहीं होता । कहीं-कहीं अत्युक्ति भी हो जाती है ।

यदि एक व्यक्ति उसी प्रकार चलता है जैसे पहले चलता था, उसी ध्वनि से बोलता है जैसे पहले बोलता था, उसी प्रकार अक्षर बनाता है जैसे पहले बनाता था, तो कैसे माना जा सकता है कि आत्मा का परिवर्तन हो गया ? यदि आप मेरे हाथ से लिखें तो उसी प्रकार का न लिखेंगे जैसा मैं लिखता हूँ? यदि आप मेरी ज़बान से बोलें तो उसी प्रकार से न बोलेंगे ? बोलना या लिखना केवल शारीरिक कार्य नहीं हैं, ये मास्तिष्किक और मानसिक भी हैं। मैंने इसे अभ्यास करके सीखा है। यह अभ्यास मेरा अपना अभ्यास है, दूसरे का अभ्यास नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त किसी आत्मा का इस प्रकार शरीर में आना सम्भव भी नहीं। शरीर और शरीरी का वही सम्बन्ध नहीं है जो मकान और मकानवाले का है। हम कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का वर्णन करते हुए बता चुके हैं कि किस प्रकार सूक्ष्म शरीर का विकास होकर स्थूल शरीर बनता है और किस प्रकार स्थूल शरीर छोड़कर आत्मा सूक्ष्म शरीर द्वारा दूसरे शरीर में चला जाता है। यदि स्थूल शरीर एक सन्दूक होता है जिसके भीतर बिना विशेष सम्बन्ध के सूक्ष्म शरीर रह सकता तो यह बात ठीक भी थी। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का ऐसा सम्बन्ध है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म के बिना क्षणभर

भी जीवित नहीं रह सकता। स्वप्न और सुषुप्ति में भी जीवन का व्यापार जारी रहता है। फिर कैसे सम्भव है कि एक आत्मा तो कहीं चला जाय और दूसरा आ जाय? यह भी विचारणीय है कि जब मिस बोचैम्प के शरीर में सैली आ गई तो बोचैम्प कहाँ चली गई? माना कि उसको इस शरीर के व्यापार की याद नहीं रही, क्या दूसरे स्थान की भी याद नहीं? यह योनि-परिवर्तन तो था ही नहीं। एक सन्दूक में दो छोटे सन्दूक तो रक्खे जा सकते हैं, परन्तु एक स्थूल शरीर में उसी प्रकार दो सूक्ष्म शरीर नहीं रह सकते, क्योंकि जिस प्रकार एक ही हृदय का समस्त शरीर के साथ भौतिक सम्बन्ध है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर का भी समस्त तन्तु-संस्थान के साथ सूक्ष्म सम्बन्ध है। क्या कोई कह सकता है कि अमुक शरीर में दो हृदय हैं? क्या यह सम्भव बात है? इसी प्रकार क्या एक शरीर में दो मस्तिष्क भी हो सकते हैं?

रही मृत आत्मा बुलाने की बात, तो यह भी सम्भव प्रतीत नहीं। क्या मृत आत्मा इधर-उधर खाली फिरते रहते हैं कि जब चाहे किसी के शरीर में प्रवेश कर जायँ? वे शरीर में प्रवेश ही कैसे कर सकते हैं? शरीर में प्रवेश करने का अर्थ ही क्या है? हम फिर उसी बात को दुहराते हैं कि यदि शरीर और शरीरी के वास्तविक सम्बन्ध पर पूर्ण रीति से विचार किया जाय तो इस प्रकार के प्रश्न उठ ही नहीं सकते। इस सम्बन्ध को यथार्थ न समझकर ही लोगों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं, जैसे—

(१) कुछ लोगों ने समझा कि मनुष्य जब सो जाता है तो जीवात्मा शरीर को छोड़कर सैर करने चला जाता है। इस आधार पर बीसियों मनोरंजक कहानियाँ गढ़ ली गईं, जो आधुनिक और प्राचीन साहित्य में प्रचलित हो गईं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का पूर्ण विवेचन ऐसी कल्पना के लिए कोई आधार नहीं छोड़ता, क्योंकि यदि मैं सोने के समय कलकत्ते चला जाऊँ और मेरा शरीर प्रयाग में पड़ा रहे तो लक-लकाने से मैं कैसे जाग पड़ूँगा? क्या कोई ऐसा सूक्ष्म तन्तु है जो

मुझे शरीर के साथ बाँधे हुए है ? फिर प्राण तो चलता ही रहता है। सुषुप्ति में जो आनन्द होता है वह भी तो मुझीको होता है। दूसरी बात यह है कि यदि स्वप्न में शरीर अन्यत्र चला जाता तो वहाँ की वर्तमान अज्ञात बातों को भी जान लेता। कल्पना कीजिये कि मैंने २५ वर्ष पूर्व बम्बई देखी। उस समय की बम्बई में और आज की बम्बई में बहुत भेद हो गया होगा। अगर मैं आज स्वप्न में बम्बई जाऊँ तो उसी बम्बई में जाऊँगा जो २५ वर्ष पहले थी, न कि आज की बम्बई में। इससे स्पष्ट है कि स्वप्न में जीव शरीर से बाहर नहीं जाता, किन्तु वासनाओं के जगत् में विचरता है। इसका अधिक विवरण पिछले अध्यायों में आ चुका है।

(२) कुछ लोग प्लेंचिट में रूह बुलाते हैं। अनेक संकेतों द्वारा प्रश्नों के उत्तर पूछते हैं। यह बात भी हमारी समझ में नहीं आती, क्योंकि मेज़ या अन्य साधन कभी शरीर का काम नहीं कर सकते। यहाँ दूसरे के शरीर में प्रवेश का प्रश्न नहीं, किन्तु एक जड़ वस्तु में प्रवेश का प्रश्न है। मेज़, कुर्सी आदि कभी स्थूल शरीर का काम नहीं दे सकते। देंगे भी कैसे ? फिर तो सजीव और निर्जीव में कुछ भेद ही न रहेगा। दूसरे, इस बात का भी तो उत्तर होना चाहिये कि हमारा रूहों पर क्या स्वत्व है कि जब कहीं चार यार मेज़ के चारों ओर बैठ गये और रूहें हमारे इशारे पर नाचने लगीं।

(३) कुछ लोग भूत-चुड़ैल आदि को योनिविशेष मानते हैं, जैसे मनुष्य, गाय, बैल आदि की योनियाँ हैं। परन्तु योनि का क्या अर्थ है ? सूक्ष्म शरीर वा स्थूल शरीर ? यदि कहो सूक्ष्म शरीर तो क्या सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर के रह सकता है ? क्या केवल सूक्ष्म शरीर को ही योनि कह सकते हैं ? फिर यदि वह सूक्ष्म शरीर है तो स्थूल-शरीरवत् काम कैसे करेगा और स्थूल शरीर में कैसे प्रकट होगा ? साधारण जनता में तो ऐसे भ्रम फैले हुए हैं कि भूतों के उलटे पैर होते हैं, भूत विशालकाल होते हैं, भूत दूसरों पर आग या पत्थर फेंकते हैं, इत्यादि। इन कल्पनाओं ने

व्यर्थ ही मनुष्यजाति में भय उत्पन्न कर रक्खा है। इस आड़ में सैकड़ों धोखेबाज़ लोग दूसरों को लूटते हैं और बहुत-से भय के मारे मर भी जाते हैं। कुछ लोगों ने कल्पना कर रक्खी है कि ये योनियाँ जो शरीर चाहे धारण कर सकती हैं और जहाँ पत्थर न हो वहाँ पत्थर बना सकती हैं, या जहाँ आग न हो वहाँ आग उत्पन्न कर सकती हैं। वे कहते हैं कि वहाँ आग या पत्थर भले न हो, परंतु वे पर-माणु तो हैं जिनसे आग या पत्थर बना सकते हैं। उनकी धारणा है कि ये योनियाँ ऐसी शक्ति रखती हैं जिनसे शीघ्र ही पत्थर आदि बन सकें। यह बात भी हमारी समझ में नहीं आती। सृष्टि में परमात्मा परमाणुओं द्वारा पत्थर, आग, सेब, जामुन आदि बनाया करता है। उसके लिए नियत काल और नियत विधि की आवश्यकता है। कल्पना कीजिये कि खेत में सेब के परमाणु विद्यमान हैं। परन्तु यदि आप चाहें कि वे सब परमाणु दो मिनट में इकट्ठे होकर सेब का रूप धारण कर लें तो नहीं हो सकता। बीज बोने से लेकर फल लगने तक विशेष समय और विशेष रीति चाहिये। यह तो हुई दैवी शक्ति की बात! अब आप कहते हैं कि जिन, परी, भूत या योनि-विशेष उन परमाणुओं से तुरन्त ही सेब बना सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस काम को परमात्मा चार वर्ष में कर सकता था, उसको जिन और परी एक क्षण में ही कर सकते हैं। भला यह कैसे हो सकता है? वस्तुएँ अपनी प्रकृति कैसे त्याग सकती हैं? इसी प्रकार विशालकाय शरीर कैसे लुप्त हो सकता है? या सूक्ष्म शरीर शीघ्र ही कैसे विशालकाय बन सकता है?

(४) कुछ लोग सूक्ष्म शरीरों का फ़ोटो भी लेते हैं। अमेरिका आदि में ऐसे खेल बहुत होते हैं। कुछ लोगों को इनकी वास्त-विकता पर भी संदेह हो गया है। कुछ ने इन चालाकियों को पकड़ा भी है। मोटा प्रश्न यह है कि फ़ोटो के लिए तो स्थूल प्रकाश चाहिये, किन्तु सूक्ष्म शरीर तस्वीर का विषय तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार की बहुत-सी सन्देहात्मक बातें हैं जिन्होंने

लोगों को चक्कर में डाल रक्खा है और चालाक लोगों को धोखा देकर रोटी कमाने का अवसर दे दिया है।

कुछ शिक्षित पुरुष बाल की खाल निकालकर इनकी वैज्ञानिक रूप से भी व्याख्या करने लगे हैं, परन्तु वह वास्तविक रूप वैज्ञानिक रूप है ही नहीं। या, यों कहना चाहिये कि रूप वैज्ञानिक है परन्तु तत्त्व वैज्ञानिक नहीं। इस प्रकार की वैज्ञानिक भूलभुलैयाँ हमें किसी तत्त्व की ओर नहीं ले-जा सकतीं।

□

अध्याय २७

पुनर्जन्म मुक्ति का साधन है

जन्मों को बन्धन कहते हैं, इसलिए जन्म मुक्ति का साधन कैसे? यदि जन्म मुक्ति का साधन नहीं तो इनका प्रयोजन क्या? जन्म होते ही क्यों हैं? वास्तव में सृष्टि और जीवन दोनों का एक प्रयोजन है। यह प्रयोजन क्या है? सबसे उत्कृष्ट प्रयोजन यही हो सकता है कि जीवन का पूर्ण विकास हो। पूर्ण विकास का ही नाम मुक्ति है। अन्य समस्त व्यापार इसी अन्तिम उद्देश्य के साधनरूप हैं।

हम बता चुके हैं कि मुक्तिरूपी शिखर पर चढ़ने के लिए कोई सीधा रास्ता नहीं है। यह रास्ता चक्करदार है और ये योनियाँ उसी चक्करदार मार्ग के भिन्न-भिन्न भाग हैं। प्रत्येक योनि में जीव का कुछ-न-कुछ विकास हो जाता है।

कल्पना कीजिये कि मुक्ति एक ऐसा स्थान है जहाँ जाने के लिए कुछ विशेष वस्तुओं की आवश्यकता है, साथ ही यह भी आवश्यकता है कि कुछ वस्तुएँ न हों। आप इस स्थान पर पहुँचना चाहते हैं। आपके पास कई ऐसी चीज़ें हैं जिनको लेकर आप वहाँ नहीं जा सकते और कई ऐसी चीजें हैं जिनका होना जरूरी है। इस प्रकार आपको कुछ खोना है और कुछ लेना है। जो चीजें आपके पास हैं वे आपसे ऐसी चिपटी हुई हैं कि आप उनको सुगमता से फेंक नहीं सकते। ये भिन्न-भिन्न योनियाँ क्या करती हैं? आप चलते हैं और हरेक योनि में कुछ अनिष्ट चीज़ों को फेंक देते हैं और इष्ट को वहाँ से ले लेते हैं। इस

प्रकार चलते-चलते एक दिन उन सब इष्ट चीज़ों से सम्पन्न हो जाते हैं जिनकी मुक्ति के लिए आवश्यकता थी और उन सब चीज़ों से मुक्त हो जाते हैं जो मुक्ति तक पहुँचने नहीं दे रही थीं।

भौतिक विकास में क्या होता है? चलिये, किसी विकासवादी से पूछें। ड्रमंड महोदय लिखते हैं कि—

"The degeneration and extinction of the unfit are as infallibly brought about by natural laws as the survival of the fit. Evolution is by known means synonymous with uninterrupted progress, hut at every turn means relapse, extinction, and decay." (**The Ascent of Man,** p. 176)

अर्थात् "प्राकृतिक नियमों के द्वारा अयोग्यों की अवनति तथा विनाश उसी प्रकार होता रहता है जैसे योग्यों का संरक्षण। विकास निरन्तर उन्नति का पर्यायवाची नहीं है। इसके हर मोड़ का अर्थ है पुनरावृत्ति, नाश और क्षय।"

इसका तात्पर्य यह है कि प्राणियों की जीवन-यात्रा में जो मोड़ आते हैं, उनमें कुछ की वृद्धि और कुछ का क्षय हुआ करता है। 'कुछ' का किसका? यह 'कुछ' का क्या अर्थ है? क्या केवल शरीर के अवयवों का? क्या केवल इतना ही कि गलफड़ों का क्षय हो गया और फेफड़े आ गये, पूँछ का लोप हो गया और ज्ञान-तन्तुओं का आगम हो गया? यदि यह क्षय और वृद्धि केवल शारीरिक अवयवों की होती तो किसको योग्य और किसको अयोग्य कहते? योग्यता की भी तो माप होनी चाहिये। परन्तु नहीं, यह क्षय और वृद्धि केवल शारीरिक अवयवों की नहीं है। शारीरिक अवयव तो साधनमात्र हैं। यह और इनकी क्रियाएँ प्रवृत्तियाँ बनाती हैं। भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का क्षय और आगम हुआ करता है। ये योनियाँ दो रूप से काम करती हैं—एक जातीय रूप से और एक व्यक्तिगत रूप से। जातीय रूप परिस्थिति बनाता है और व्यक्ति उसका प्रयोग करते हैं। एक जाति के समस्त व्यक्ति एक-से नहीं होते, परन्तु उस

जाति-भर की कुछ प्रवृत्तियाँ सामान्य होती हैं। उसकी एक नियत परिस्थिति होती है। उस जाति के भिन्न-भिन्न व्यक्ति उसी परिस्थिति के भीतर परिश्रम करते हैं। उस परिश्रम का फल यह होता है कि उनकी कुछ अनिष्ट प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और कुछ इष्ट आ जाती हैं। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इसमें जातित्व और व्यक्तित्व दोनों का नियत मात्रा में भाग है। प्रकृति ने ऐसा नियम बनाया है कि आपको कार्य-क्षेत्र भी मिल जाय और उसके भीतर काम करने की स्वतन्त्रता भी रहे। यदि स्वतन्त्रता न रहती तो व्यक्तित्व नष्ट होता और विकास में बाधा पड़ती। यदि परिस्थिति नियत न होती तो आप असहाय होते। प्रकृति के नियमों की यह दयालुता है कि आपको दोनों सुविधाएँ हैं अर्थात् कार्य-क्षेत्र भी है और अपको अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए भी अवसर है।

इसका एक दृष्टान्त लीजिये। कल्पना कीजिये कि किसी का पुत्र शराबी हो गया और पढ़ता नहीं। पिता चाहता है कि पढ़ने की आदत आ जाय और शराब की आदत छूट जाय। वह उसको ऐसी परिस्थिति में रखता है जहाँ शराब मिलती तो है, परन्तु बड़ी कठिनाई से, और खेल जैसे पठन-पाठन के साधन भी उपस्थित हैं। पुत्र से कुछ न कहा गया। उसको ऐसी परिस्थिति में रख दिया गया। लोग उसे शराब देने को तैयार हैं परन्तु एक गिलास और वह भी तब जबकि आठ घण्टा मज़दूरी करे। अब लड़का क्या करेगा? उसके लिए दो मार्ग खुले हैं। एक तो यह कि शराब से घृणा हो जाय और पढ़ने में रुचि हो जाय। एक यह कि दुराग्रह के कारण न तो परिश्रम करे और न पढ़ने में जी लगावे। यदि पहली अवस्था हुई तो उस पुत्र के बहुत-से अवगुणों का क्षय और गुणों की वृद्धि होने लगेगी और पिता को आवश्यक होगा कि वह उसे अब किसी दूसरी परिस्थिति में रख दे जहाँ शराब का नाम न हो और पठन-पाठन का अधिक सुभीता हो। इस प्रकार तीन-चार परिस्थितियाँ बदलकर अनिष्ट प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जायँगी और

इष्ट प्रवृत्तियाँ आ जायँगी। यदि दूसरी अवस्था हुई तो सम्भव है कि उसी परिस्थिति को कुछ और अधिक कड़ा कर दिया जाय और उससे भी अधिक उपयोगी परिस्थिति बना दी जाय।

हम देखते हैं कि शेर बड़ा हिंसक पशु है, वह पिछले जन्म में हिंसक प्रवृत्तियों को बढ़ाता रहा होगा। उसकी प्रवृत्तियाँ इतनी कठोर हो गई होंगी कि उसके सूक्ष्म शरीर ने इस जन्म में भी हिंसा के उपकरण प्राप्त कर लिये। परन्तु उन उपकरणों का प्रयोग करने के लिए बहुत कम साधन हैं। जिन पशुओं को वह अपना आहार समझता है वे उसके पास नहीं आते; उसकी गंध पाते ही मीलों दूर भाग जाते हैं। शेर जंगल का राजा कहलाता है, परन्तु उसे कई-कई दिन बिना भोजन के हो जाते हैं। इधर तो प्रकृति ने उसे ऐसे साधन दिये कि कोई उसके पंजे से बच न सके, उधर ऐसी बाधाएँ डालीं कि कोमल-से-कोमल स्वभाव के जन्तु को भोजन मिल जाय और उसे न मिले। इससे अवश्य ही उसको अपने क्रूर साधनों के प्रयोग का कम अवसर मिलता है और अवश्य ही अदृष्ट रूप से उसकी प्रवृत्तियों में कमी होती होगी। यह एक उदाहरण मात्र है। सब योनियों के आन्तरिक जीवन और उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों को जाँचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। इसलिए विस्तार से हरेक बात की मीमांसा नहीं की जा सकती। वैज्ञानिकों ने प्रत्येक योनि की उपयोगिता के विषय में इसी प्रकार की धारणाएँ प्रकाशित की हैं। समास रूप से वे ठीक ही हैं। प्रवृत्तियों की संख्या इतनी है कि अमुक योनि में क्या होता है यह कहना कठिन है। जब हम अपने ही घर में साथ रहनेवाले भाई की आन्तरिक प्रवृतियों की विस्तृत मीमांसा नहीं कर सकते तो असंख्य योनियों के असंख्य व्यक्तियों के विषय में क्या कह सकते हैं? परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समस्त सृष्टि-संगठन है इसी प्रकार का, और उसका उद्देश्य जीव-सुधार है।

कुछ लोग समझते हैं भिन्न-भिन्न योनियों का उद्देश्य जीव-

सुधार है तो जीव सदा उन्नत ही हुआ करेगा, जैसे स्कूल पढ़ाने के लिए है। इसलिए यदि एक विद्यार्थी छठे दर्जे से सातवें में चढ़ गया तो फिर नीचे नहीं उतर सकता। सम्भव है कि आठवें में जाय, सम्भव है सातवें में ही रह जाय। इनकी धारणा ऐसी है कि जीव ऊपर की योनियों में तो जाता है, नीचे की योनि में नहीं। मुक्ति की चोटी पर चढ़ने के लिए जितनी यात्रा हो चुकी वह हो चुकी, नीचे न उतरेगा। परन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं और न वैदिक सिद्धान्त ही इसकी पुष्टि करते हैं। हमारा ऐसा अनुमान है कि लोगों की यह धारणा दृष्टान्त को सर्वाङ्ग में लेने के कारण हो गई, उन्होंने प्रकृति-दत्त परिस्थिति को ही सब-कुछ समझा। उन्नति और विकास में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कितना भाग है इसपर विचार नहीं किया। यह सच है कि स्कूल विद्योन्नति के लिए हैं, परन्तु इस उन्नति करने में विद्यार्थी परवश नहीं है, और उसको स्वतन्त्रता है। वह ऐसे काम कर सकता है या आलस्य के कारण इतना भूल सकता है कि उसे नीचे की कक्षाओं में उतरना पड़े। हमारे स्कूलों में नीचे उतरने की प्रथा बहुत कम है। इसके दो कारण हैं—एक तो हमारे नियम प्रकृति के नियमों के समान अटूट नहीं हैं, उनमें लचीलापन बहुत है; दूसरे, भिन्न-भिन्न योग्यताओं के अनुसार बहुत-सी कक्षाएँ नहीं हैं। हमारे स्कूल के पाँच सौ विद्यार्थियों को पचास वर्गों में बाँटा जा सकता है, परन्तु हमने मोटे-मोटे आठ-दस वर्ग बना लिये हैं। इसके अतिरिक्त स्कूल का दृष्टान्त तो दृष्टान्त-मात्र है, सर्वांशों से घटाया नहीं जा सकता। हमने पिछले अध्यायों में जो पहाड़ की चोटी का दृष्टान्त दिया था, वहाँ लिख दिया था कि इस दृष्टान्त की विषमता को कम करने के लिए इतना और मान लेना चाहिये कि प्रत्येक प्रमादी यात्री किसी यंत्र द्वारा साँप-सीढ़ी के खेल के समान नीचे भी गिराया जा सकता है।

इसका यह अर्थ निकला कि मनुष्य अपने खोटे कर्मों द्वारा निकृष्ट योनियों को भी प्राप्त हो सकता है। सृष्टि के व्यापार पर

दृष्टि डालने से यह बात इतनी अवश्यम्भावी प्रतीत होती है कि इसके विपरीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमें सभ्य जातियों की परिस्थितियों के बीच में रहते हुए ऐसे मनुष्य मिलते हैं जिनमें मनुष्यों के कोई लक्षण नहीं हैं और जिनकी प्रवृत्तियाँ पशुओं की प्रवृत्तियों से भी गिरी हुई हैं। उनके आचार-व्यवहारों से यह आशा करना कि उनका सूक्ष्म शरीर उन प्रवृत्तियों से प्रभावित न होता होगा, कैसे सम्भव है ? और जब वे अपने सूक्ष्म शरीर को इस प्रकार बना चुके तो उस परिवर्तित सूक्ष्म शरीर से कब सम्भव है कि मनुष्य का शरीर मिल सके ? उनके लिए तो यही आवश्यक है कि अपने सूक्ष्म शरीर में छिपाई हुई वासनाओं द्वारा वे उसी प्रकार की निकृष्ट योनि को प्राप्त करें और जब-तक उस योनिरूपी भट्टी में अपनी बुरी वासनाओं को भस्म न कर दें मनुष्य की योनि में न आवें।

मनुष्य की योनि में उन्नति करने के साधन बहुत हैं, साथ ही स्वतन्त्रता भी बहुत। जहाँ अधिक स्वतन्त्रता होगी वहाँ गिरावट की सम्भावना भी अधिक रहेगी। उसी स्वतन्त्रता के कारण मनुष्य-योनि को 'उभय योनि' (अर्थात् कर्म-योनि और भोग-योनि का मिश्रण) बताया गया है, शेष सब योनियों को केवल भोग-योनि। भोग-योनि कहने से यह तात्पर्य नहीं है कि उन निचली योनियों में व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए बिल्कुल स्वतन्त्रता है ही नहीं। हम पशुओं को भी बुद्धि का उपयोग करता हुआ देखते हैं। पूर्णतया परतन्त्र होने से बुद्धि का विकास बन्द होने का भय था। बुद्धि के विकास के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक वस्तु है। जहाँ निर्वाचन का अवसर नहीं वहाँ बुद्धि का विकास कैसा ? इसलिए यह कहना कि पशु तर्क ही नहीं करते या उनमें करने, न करने या उलटा करने की योग्यता ही नहीं होती, ठीक प्रतीत नहीं होता। कुत्तों के ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें उन्होंने बड़ी बुद्धिमत्ता का प्रयोग करके स्वामी की जान तथा सम्पत्ति को बचाया है। ऐसी बुद्धिमत्ता साधारण मनुष्य की बुद्धिमत्ता से किसी प्रकार कम नहीं

है। बिल्ली-बन्दर आदि घात में रहते हैं और बहुधा ऐसे काम करते हैं जिनसे उनको सर्वथा बुद्धि-शून्य नहीं कह सकते।

हम ऊपर बता चुके हैं कि अनिष्ट प्रवृत्तियों के लोप और इष्ट प्रवृत्तियों के आगम के लिए ही ये भिन्न-भिन्न योनियाँ हैं। यदि यह ठीक है तो प्रवृत्तियों का यह लोप और आगम बिना बुद्धि के व्यापार के कैसा होगा? इसलिए भी पता चलता है कि इन योनियों में भी बुद्धि का विकास होता रहता है।

एक बात और, यह कहना ठीक नहीं कि पशु-योनि से आया हुआ जीव मनुष्य की निकृष्टतम श्रेणी में ही जन्म लेता है। यदि बुद्धि का व्यापार सर्वथा बन्द हो जाय तो जीव मनुष्य-योनि के योग्य ही न रहे और कम-से-कम ऊपरी श्रेणियों के तो कभी योग्य न रहे, क्योंकि पिछले जन्म की आन्तरिक अवस्था और अगले जन्म की आन्तरिक अवस्था में निकटतम सादृश्य होना चाहिये।

अब एक प्रश्न उठता है—यदि ऐसी बात है तो पशुओं को भोगयोनि और मनुष्य को कर्म-योनि क्यों कहा गया और पशुओं को अपने कर्मों का उत्तरदाता क्यों नहीं ठहराया गया, मनुष्यों को क्यों ठहराया गया?

यह अवश्य ही जटिल प्रश्न है। यदि कहते हैं कि पशु भी मनुष्य के समान कर्म-योनि है तो उनके लिए भी आचारशास्त्र होना चाहिये। बहुत-से-लोग इसलिए मांस खाना विहित समझते हैं कि वे पशुओं को मांस खाते देखते हैं। बहुत-से विवाह की मर्यादा को इसलिए व्यर्थ समझते हैं कि वे पशुओं में इस प्रकार की कोई मर्यादा नहीं देखते। आचार के जो बन्धन पशुओं के लिए नहीं हैं, उनको मनुष्य के लिए क्यों बनाया गया?

यदि कहा जाय कि मनुष्य ही कर्म-योनि है और पशु केवल भोग-योनि, तो बुद्धि के विकास का अभाव होता है। यदि जीव में भोक्तृत्व, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व स्वाभाविक गुण हैं और यदि ये योनियाँ इन्हीं गुणों के विकास के लिए हैं तो बिना बुद्धि को विकास का अवसर मिले यह पूर्ण विकास होगा कैसे? बुद्धि का

विकास रोकने से तो कर्तृत्व ही रह जाता है; तब उसमें और घड़ी आदि जड़ वस्तुओं की गति में कोई भेद नहीं रहता।

निःसन्देह यह बड़ी आपत्ति है और इससे बचने का कोई सीधा मार्ग प्रतीत नहीं होता। परन्तु एक बात पर विचार करना है। प्रश्न यह है कि यदि मनुष्य कर्म-योनि है और अपने कामों का उत्तरदाता है तो कब से ? क्या दो मास का बालक कर्म-योनि भी है या केवल भोग-योनि ? क्या वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदाता है ? क्या वह करने, न करने, और उलटा करने का सामर्थ्य रखता है ? वात्स्यायन मुनि न्यायदर्शन ४।१।६० के भाष्य में लिखते हैं—

यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्मभिरधिक्रियते।

अर्थात्—जब बालक माता की कोख से जन्म लेता है तो उसी समय कर्म का अधिकारी नहीं होता।

इससे पता चला कि न केवल पशु अपितु बालक भी केवल भोग-योनि है। परन्तु एक बात मालूम न हुई कि वह कितने वर्ष की आयु तक भोग-योनि रहते हैं और कब से कर्म-योनि की कोटि में आते हैं ? यदि राजसंस्थाओं के निश्चय को ठीक माना जाय तो बड़ी गड़बड़ है। चार वर्ष का बच्चा चोरी में पकड़ा जाय तो उसे सज़ा न होगी, तेरह वर्ष का पकड़ा जाय तो जेल न होगी, किन्तु रिफ़ॉर्मेट्री स्कूल में भेज दिया जायगा। इसको भोग-योनि कहें या कर्म-योनि ? उन्नीस वर्ष का पकड़ा जाय तो जेल में जाएगा। परन्तु यदि अठारह वर्ष का मनुष्य पैतृक सम्पत्ति को इधर-उधर करना चाहे तो नाबालिग़ ही समझा जायगा, अर्थात् किसी कार्यक्षेत्र में तो वही बालक कर्मयोनि समझा जाता है और किसी अन्य कार्य-क्षेत्र में केवल भोगयोनि। यह क्षेत्र-भेद क्यों ?

अच्छा और लीजिये। पागल मनुष्य कर्म-योनि समझे ही नहीं जाते। पचासों हत्यारे रोज़ हाईकोर्ट से इसलिए छोड़ दिये जाते हैं कि वे उन्मत्त हैं। उन्मत्तों की भी श्रेणियाँ हैं, जिनके जानने में कभी-कभी उच्च श्रेणी के डॉक्टर भी भूल कर बैठते हैं।

इससे भी आगे चलिये। क्या सब मनुष्य अपने कर्त्तव्य के लिए एक-से-ही उत्तरदाता हैं ? क्या अफ्रीका के रहनेवाले जंगली मनुष्य का उत्तरदातृत्व उतना ही है जितना एक बड़े सभ्य साम्राज्य के अमात्य का ? यदि मनुष्य कर्म-योनि और भोग-योनि दोनों हैं तो कर्म और भोग का निपात एक ही है या भिन्न-भिन्न ? क्योंकि दोनों में एक-सी बुद्धि नहीं।

समाधान ऐसा होना चाहिए जो इन सबकी संगति मिला दे। जो अन्तिम उदाहरण जंगली मनुष्य और साम्राज्य के अमात्य का दिया है, उसमें समाधान की कुंजी भी छिपी हुई है। इस उदाहरण को सुनकर विचारशील पुरुष शायद कहने लगें कि कर्म-योनि तो दोनों हैं, परन्तु कर्त्तव्य-क्षेत्र का भेद है। एक का कर्त्तव्य-क्षेत्र संकुचित है और दूसरे का विस्तृत। यह भी ठीक। वस्तुतः इनके सम्बन्ध में भोग-योनि और कर्म-योनि सापेक्षिक शब्द हैं। अपने घर में अपनी स्त्री या बालकों के साथ व्यवहार करने में दोनों का उत्तरदायित्व लगभग एक-सा है। परन्तु राज्य के मामले में जंगली मनुष्य सर्वथा भोग-योनि है और अमात्य कर्म-योनि। एक का उत्तरदातृत्व है, दूसरे का नहीं। कर्म-योनि का अर्थ है करने, न करने और उलटा करने की स्वतन्त्रता। भोग-योनि का अर्थ है इस स्वतन्त्रता का अभाव। यह स्वतन्त्रता और परतन्त्रता सापेक्षिक होती है। कहीं मैं स्वतन्त्र हूँ, कहीं परतन्त्र। मेरा रसोइया तरकारी या दाल के निर्वाचन में परतन्त्र है, मैं स्वतन्त्र। वही रसोइया अपने घर के भोजन के विषय में स्वतन्त्र है।

जब यह पता चल गया कि भोग-योनि और कर्म-योनि शब्द-क्षेत्रों की अपेक्षा से है तो इसी नियम को सबपर लगाते जाइये। १० वर्ष का बालक सामाजिक मामलों में भोग-योनि और सबक के याद करने में कर्म-योनि है। चोरी करने में उसको जेल न होगी, परन्तु अपने साथी की कलम चुरा लेने पर उसपर मार अवश्य पड़ेगी। इसका अर्थ यह है कि बड़ी-बड़ी सामाजिक घटनाओं के लिए वह भोग-योनि है और छोटी-छोटी के लिए

कर्म-योनि। इस प्रकार छोटे बच्चे और पशु अपनी बुद्धि के विकास का अवसर तो रखते हैं, परन्तु ये अवसर ऐसे सूक्ष्म हैं कि उनकी ग़लतियों का समाज पर कोई असर नहीं पड़ता। इसी-लिए समाजशास्त्र में उनको कर्त्तव्यरहित माना है। धर्मशास्त्र, कर्त्तव्यशास्त्र, आचारशास्त्र या समाजशास्त्र जिन क्षेत्रों से सम्बन्ध रखता है उनके लिए यह सब भोग-योनि है और इसलिए परतन्त्र है, क्योंकि उनकी बुद्धि का इतना विकास नहीं हो पाया कि उनके काम इन क्षेत्रों को बना या बिगाड़ सकें।

इसको एक उदाहरण से स्पष्ट कीजिये। यदि कोई आकर आपसे पूछे कि 'आज आलू खाना' धर्म है या अधर्म? तो आप शायद यही उत्तर देंगे कि न धर्म है, न अधर्म। भला ऐसा कैसे हो सकता है कि एक काम न धर्म हो न अधर्म? यदि धर्म होगा तो अधर्म नहीं और अधर्म होगा तो धर्म नहीं। परन्तु आप ऐसा उत्तर क्यों देते हैं? केवल इसलिए कि जिन शारीरिक और आत्मिक क्षेत्रों के विस्तृत ज्ञान से धर्म और अधर्म अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निश्चय हो सकता, वह ज्ञान आपके पास नहीं है। आप उसके शरीर की तात्कालिक अवस्था को जाँचकर यह नहीं बता सकते कि उसे आलू खाना चाहिये या नहीं। आपने केवल उस क्षेत्र को दृष्टि में रखकर उत्तर दिया है जो समाजशास्त्र या आचारशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम बहुत गहराई तक नहीं जा सकते। जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है, तुम्हारा आलू खाना या न खाना समाज की सामाजिक दशा पर कोई प्रभाव न डाल सकेगा। एक प्रकार से उसका आलू खाना समाज के लिए बड़ी हानि कर सकता है। कल्पना कीजिये कि उसे कोई रोग है। वह रोग आलू खाने से बढ़ गया और उस रोग के कारण वह १०० रु० न कमा सका। यह १०० रु० केवल उसकी हानि तो है नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समाज का व्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति की अवनति समाज की अवनति है। इसलिए आलू खाने से वह समाज को हानि पहुँचाने का दोषी हो गया। परन्तु आप इतनी दूर तक

नहीं जाना चाहते। इतनी दूर जाना व्यावहारिक सीमा का उल्लङ्घन करना है। समाजशास्त्र या आचारशास्त्र इतनी दूर नहीं जा सकते। इसलिए आप उससे कहते हैं कि तुम्हारा 'आज आलू खाना' न धर्म है न अधर्म। तात्पर्य यह है कि आपका उत्तर व्यावहारिक है और कर्म-योनि तथा भोग-योनि शब्द भी व्यावहारिक हैं। उनसे यह समझ लेना कि पशु-पक्षियों के कोई कर्म ऐसे नहीं हैं जिनमें वे अपनी बुद्धि का स्वतन्त्र प्रयोग कर सकें, ठीक प्रतीत नहीं होता। हिंसक पशुओं के जीवन में भी दया का प्रकाश मिलता है। जब भेड़िये ने रोम के निर्माता रैमश और रोम्यूलस को अपनी माँद में पाला और निरन्तर खाने की इच्छा नहीं की, तो अवश्य ही उस भेड़िये की प्रवृत्ति में कुछ तब्दीली हुई होगी। अन्धी और बुद्धिशून्य आन्तरिक प्रेरणा एक क्षण के लिए काम कर सकती थी, निरन्तर वर्षों तक नहीं; परन्तु जब हम पशुओं को भोग-योनि कहते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उनकी बुद्धि का विकास उस सीमा तक नहीं हो पाया कि उनपर आचारशास्त्र का बोझ डाला जा सके।

जब जीव की बुद्धि का विकास मनुष्य की सीमा तक पहुँच जाता है तो आचार, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न आरम्भ हो जाता है, क्योंकि अब उसको पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता से उसे आगे के लिए अधिक विकास करना है। मनुष्य-योनि में विकास की गाड़ी को तेज़ी से चलना चाहिये। पहले जीव भैंसे की गाड़ी में बैठा था, अब मेल ट्रेन पर सवार है। भैंसे की गाड़ी से गिरने में शायद अधिक चोट न लगती, मेल ट्रेन से गिरने में मृत्यु अवश्यम्भावी है। भैंसे की गाड़ी में एक घण्टे में एक मील यात्रा करता है, मेल ट्रेन में एक घण्टे में साठ मील जायगा। वर्णधर्म, आश्रय-धर्म, जिनसे स्मृतियाँ, दर्शन और उपनिषदें भरी पड़ी हैं, इस विकास के साधन हैं। इन धर्मों पर चलकर अनिष्ट प्रवृत्तियों का लोप होगा और इष्ट प्रवृत्तियों का आगम। ब्रह्मचर्य-आश्रम और उसके शारीरिक, मानसिक तथा

आध्यात्मिक कर्तव्य, गृहस्थाश्रम और उसके अनेकानेक कृत्य (विवाह, स्त्री-पुत्र तथा परिवार का पालन, यज्ञ, अध्ययन तथा दान), वानप्रस्थ से शम, दम और तप, संन्यास से भोग-विकास-त्याग, ये सब बाह्य यज्ञ और संस्कार, तथा आन्तरिक संकल्प-विकल्प उसी पूर्ण विकास की सीढ़ियाँ हैं जिसका नाम मुक्ति है। लोक-यात्रा और परलोक-यात्रा में भेद नहीं है। लोक-यात्रा ही परलोक-यात्रा है, क्योंकि प्रत्येक तात्कालिक कर्तव्य का पालन हमारे अन्तिम विकास का साधक, और प्रत्येक स्खलन विकास के मार्ग में रोड़ा है। चाहे हम निचली-से-निचली अवस्था में क्यों न हों, यदि हम उस अवस्था से तात्कालिक कर्तव्यों का पालन करेंगे तो अवश्य ही मुक्ति के निकट होते जाएँगे, और यदि उसमें असावधानी की तो उतना ही दूर हटते जाएँगे। यदि आप किसी महल की सीढ़ियों पर से गुज़र रहे हैं तो प्रश्न यह नहीं है कि आप किस सीढ़ी पर हैं, प्रश्न यह है कि आपका मुख किधर है? अगर मुख ऊपर को है तो प्रत्येक पग पर आप ऊँचे चढ़ेंगे। यदि मुख नीचे की ओर है तो प्रत्येक पग आपको छत से दूर ले-जाएगा।

□

अध्याय २८

मुमुक्षुत्व, जीवन-मुक्ति और मुक्ति

कहावत है कि प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दु:ख से दूर भागता है। यह सुख-ग्रहण और दु:ख-त्याग की प्रवृत्ति प्राणी को उन साधनों को इकट्ठा करने में सहायता देती है जो उसके विकास के लिए आवश्यक है, जैसे—यदि मुझे भोजनविशेष का सुख लेने की आकांक्षा न होती तो क्यों धन कमाता और क्यों उस भोजन को बनाने का कष्ट करता? यदि मुझे गर्मी-सर्दी के दु:ख से बचना न होता तो क्यों वस्त्र बनाता, मकान-निर्माण करता? संसार की समस्त संस्थाएँ इसी प्रवृत्ति के कारण हैं। यदि प्राणी सुख की चाह और दु:ख-द्वेष छोड़ दें तो आज समस्त जगत् अस्त-व्यस्त हो जाय और किसी प्रकार की प्रगति दृष्टिगोचर न हो।

यह तो हुई सुख-ग्रहण और दु:ख-त्याग की प्रवृत्ति की उपयोगिता, परन्तु सृष्टि में एक बात और मिलती है—सुख के साधन सुख नहीं और दु:ख के कारण दु:ख नहीं। साधन बाहरी चीजें हैं और सुख-दु:ख भीतरी। वही वस्तु एक समय या एक अवस्था में सुख देती है और दूसरे समय या दूसरी अवस्था में दु:ख। जिस हलवे को हमने एक समय मज़े से खाया, उसी हलवे को देखकर दूसरे समय मतली आती है। इससे ज्ञात होता है कि संसार की चीज़ें साधन हैं, उद्देश्य नहीं। उद्देश्य और साधन में यह भेद है कि साधन अपना काम करने के पश्चात् हेय हो जाता है। जगत् को दर्शन-शास्त्रों में हेय इसीलिए कहा है कि काम करके

उसको छोड़ देना चाहिए। कोई स्टेशन पर पहुँचकर गाड़ी में बैठा नहीं रहता, न किसी को पेट भरने के पश्चात् खाते रहना चाहिये। जिस वस्तु का काम समाप्त हो चुका उससे चिपटना नहीं चाहिये।

सब बुद्धिमान् पुरुष यही कहते हैं और सब बुद्धि-हीन इसके विरुद्ध। इसके अतिरिक्त सबमें एक-सी बुद्धि तो है ही नहीं। जिसमें जितनी बुद्धि है, उतना ही इस नियम का पालन अधिक करेगा।

न्यायदर्शन का दूसरा सूत्र है—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। (न्याय दर्शन १।१।२)

अर्थात्—मिथ्या ज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख के क्रमशः छूटने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

मिथ्या ज्ञान क्या है और वह किस प्रकार छूटता है? मिथ्या ज्ञान की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न की है और उनकी जटिल व्याख्या को पढ़कर सुगमतया यह समझ में नहीं आता कि उससे कैसे छूट जायँ? मिथ्या ज्ञान कोई लोहे की बेड़ी नहीं है जो काटकर फेंकी जा सके, परन्तु है यह बेड़ी ही। संसार के सभी मनुष्य जानते हैं कि उनको मिथ्या ज्ञान का रोग है, परन्तु उस रोग का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह किसी की समझ में नहीं आता। हम उस रोगी के समान हैं जो शरीर में पीड़ा तो बताता है, परन्तु यह नहीं बता सकता कि किस अंग में और कैसी पीड़ा है।

हमारी धारणा तो यह है कि साधना को साध्य समझ लेना ही मिथ्या ज्ञान है और इसी मिथ्या ज्ञान में फँसे रहने के कारण हम जन्म-मरणरूपी चक्र में पड़े हुए हैं। यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि संसार की चीज़ें सुख का साधन हैं, सुख नहीं। पहली भूल हम यह करते हैं कि उन्हीं चीज़ों को सुख समझ लेते हैं। उन चीज़ों से सुख मिलता अवश्य है, परन्तु विशेष अवस्थाओं में। सुख उनका गुण नहीं है और सुख उनमें इस प्रकार विद्यमान है जैसे

आम में रस। हम जब विशेष अवस्था में उनका प्रयोग करते हैं तो हमारे सम्बन्ध से सुख उत्पन्न हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि उन वस्तुओं को सुख का साधन बनाने में हमारा अपना भी बहुत-कुछ भाग है। सुख एक साझे की दुकान है। हम तथा संसार की वस्तुएँ साझी दुकानदार हैं। दुकान में जो लाभ होता है वह साझियों की पूंजी के हिसाब से बाँट दिया जाता है। यदि पूंजी दोनों की बराबर है तो दोनों को बराबर लाभ होगा। यदि आपकी पूंजी बढ़ जायगी तो आपको तदनुसार लाभ भी अधिक होगा।

एक उदाहरण लीजिये। आप खाना खाते हैं। मज़ेदार लगता है। आप समझते हैं कि खाने में मज़ा है। वस्तुतः मज़ा एक लाभ है जो आपके खाद्य पदार्थ से मिलकर व्यापार करने से प्राप्त हुआ है। यदि आपका स्वास्थ्य अच्छा है और आप परिश्रम करके खाते हैं तो खाना मज़ेदार लगेगा। यदि आपने समझा कि 'मज़ा' केवल खाद्य पदार्थ की पूंजी का ही फल है और अपनी पूंजी कुछ नहीं लगाते तो आप उस खाने से मज़ा न ले सकेंगे। आपको मतली क्यों आने लगी ? इसलिए कि आपने अपना भाग जो भूख और परिश्रम के रूप में था खींच लिया। यदि आप दुकान से अपनी सब पूंजी निकाल लें तो साझी आपको लाभ एक पैसा भी न देगा। यदि आप व्यायाम करने लगें और आपकी भूख बढ़ने लगी तो वही खाना जो एक तोला मज़ा देता, एक पाव मज़ा देने लगा, क्योंकि आपकी पूंजी का प्रतिशत बढ़ गया।

इसी नियम को आप अपने सब कामों पर घटाते जाइये। मूर्ख आदमी समझता है कि रुपये में सुख है। बुद्धिमान् समझता है कि विशेष अवस्थाओं में रुपया उसका साझी हो सकता है और उसकी पूंजी के अनुसार उसे सुख दे सकता है। यही कारण है कि धनिक दुःखी है। दुःखी धनिक उस दुकानदार के समान है जिसने दुकान से अपनी पूंजी से भी अधिक रुपया निकाल लिया है और उसका साझी बजाय नफ़ा देने के उलटा उसपर ऋण के चुकाने के लिए अभियोग चलाता आ रहा है ! कितने लोग हैं जो संसार की वस्तुओं

को सुख का पर्याय समझकर उन्हीं के उपार्जन में लगे रहते हैं ! यही मिथ्या ज्ञान है।

मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति जादू से नहीं होती। इसके लिए आरम्भ से अभ्यास करना पड़ता है। ब्रह्मचर्य-आश्रम में यही सिखाया जाता है कि वस्तुओं का सम्पादन तो करो, परन्तु यह समझते रहो कि वस्तुएँ सौ फी सैकड़ा सुख नहीं दे सकतीं। जितनी तुम्हारी अपनी पूँजी होगी उतना ही तुमको लाभ होगा। ब्रह्मचर्य के नियमों का अभ्यासी जीव ज्यों-ज्यों बढ़ता है, अपने में यह शक्ति बढ़ाता जाता है। अन्नप्राशन संस्कारों के पीछे यह आशीर्वाद देते हैं कि तू 'अन्न-पति' और 'अन्नाद' हो, अर्थात् केवल अन्न होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु तुझको अन्नाद (खाकर अन्न का पचानेवाला) भी होना चाहिये।

आगे चलकर इस साझे की दुकान में वस्तुओं की पूँजी कम होने लगती है और आपकी पूँजी बढ़ने लगती है। इसपर थोड़ा-सा विचार कीजिये, क्योंकि इसी विचार में तो आपका विकास है। आप क्या हैं ? हमने जीवात्मा का लक्षण करते हुए बताया था कि आप ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्ववाली अल्प सत्ता हैं। देखिये, एक नियमित धार्मिक जीवन में आप इन तीनों शक्तियों का विकास किस प्रकार करते हैं।

प्रथम आपको केवल अपने खाने की ज़रूरत थी। यह ज़रूरत धन कमाने में थोड़ी-सी क्रिया से पूरी हो सकती थी। अल्प क्रिया के लिए ज्ञान की भी थोड़ी-सी ज़रूरत होती है। असभ्य जाति के एक मछुए को काम क्या ? मछली मार ली और खा ली। इसके लिए न विज्ञान की ज़रूरत, न दर्शन की, न चौबीस घण्टे परिश्रम की। अल्प-ज्ञान और अल्प-क्रिया के साथ भोग भी अल्प ही हुआ।

परन्तु एक धार्मिक मनुष्य ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उसका कार्यक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र बढ़ा। अब उसे केवल अपने लिए आवश्यकता नहीं, परिवार का पालन भी करना है। स्वभावतः

इसको अधिक ज्ञान और अधिक क्रिया चाहिये, साथ ही भोक्तृत्व भी कम नहीं हुआ, केवल उसका स्वरूप ही विशद हो गया। पहले वह भोजन के 'खाने' में स्वाद लेता था, अब यह भोजन के 'खिलाने' में स्वाद लेने लगा। दिनभर परिश्रम करके भोजन लाया। बच्चों को खिला रहा है और स्वयं आनन्द ले रहा है। खिलाने का मज़ा खाने से कई गुणा विशद है। उसमें स्थूल कम है, सूक्ष्मता अधिक है। मेरी माता जी कोई अच्छी चीज़ बनातीं और थोड़ी होती तो वह यह चाहती थीं कि सब मुझको दे दें। मैं कभी कहता था कि माता जी, थोड़ी-सी अपने लिए भी रहने दो तो कहा करती थीं, 'मुझे अच्छी नहीं लगती।' इस वाक्य में कुछ झूठ अवश्य था, परन्तु इसका तत्त्व मैं अब समझता हूँ। यह बात नहीं थी कि माता जी को वह चीज़ अच्छी न लगती थी; यदि अच्छी न लगती तो अपने प्यारे पुत्र के लिए क्यों बनातीं? बात यह थी कि उनको स्वयं खाने की अपेक्षा पुत्र को खिलाने में ज़्यादा स्वाद आता था। खाना उसको मज़ा दे रहा था, परन्तु मेरे द्वारा। ऐसे लाखों दानी संसार में मौजूद हैं जो दूसरों को खिलाने में ही आनन्द लेते हैं। यह बात नहीं कि उनमें भोक्तृत्व जाता रहा। नहीं, यह तो स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण जा कैसे सकता है? बात यह है कि उनकी भोक्तृत्व-शक्ति का विकास हो गया है। वह विशद हो गई है। उनको सुख का स्थूल फोक पसन्द नहीं। वे सुख का सूक्ष्म रस ले रही हैं। भोगक्षेत्र के साथ-साथ कार्यक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र भी बढ़ रहा है।

इस विकास में एक और मज़े की बात है जिसको समझे बिना मुक्ति का अन्तिम प्रश्न हल न होगा। आप शायद पूछने लगें कि इस व्यापार में मिथ्या ज्ञान कैसे कम होगा? सोचिये, गृहस्थाश्रम का भार लेने से पूर्व आप चीज़ों के आदान-(लेने)-मात्र में सुख समझते थे। मिठाई आई और बच्चा लेकर भाग गया। अपने भाई को भी नहीं देता। यह केवल 'आदान'-क्षेत्र था। जो जातियाँ आचारशास्त्र की शैशव अवस्था में हैं वे 'लेना' जानती हैं, 'देना'

नहीं जानतीं। गृहस्थाश्रम रूपी युवा-अवस्था में 'आदान' 'दान' के लिए होने लगता है। माता को भोजन बनाने से तो प्रेम है परन्तु इसलिए कि बच्चे खाएँ, अर्थात् जिसने केवल 'लेना' धातु के रूप ही पढ़े थे, उसने अब 'देना' धातु का पाठ भी आरम्भ कर दिया।

आगे चलिये! —एक पुरुष बड़े परिश्रम से धन कमाकर दरिद्रों को खिला रहा है। उसने दिनभर स्वयं भोजन नहीं किया, परन्तु उसके मुख पर आनन्द की छटा है। क्यों? इसलिए कि चारों ओर से यह ध्वनि आ रही है 'वाह रे दानवीर!' इस प्रशंसा को सुन-सुनकर वह आनन्दित हो रहा है। जो मज़ा उसे स्वयं मिठाई खाने में न आता वह दूसरों को मिठाई खिलाने में आ रहा है। यदि वह स्वयं खाता तो मिठाई गले के नीचे उतरते ही मिठास की समाप्ति हो जाती…क्षणिक सुख ही मिलता। इसके विरुद्ध, दूसरों को खिलाने और उनके मुख से प्रशंसा सुनने का आनन्द बहुत काल तक रहेगा।

परन्तु यह विकास की इति नहीं है। कल्पना कीजिये कि शनैः-शनैः उसका विकास अधिक बढ़ा। जिस प्रकार स्वयं भोजन करना उसको अधिक मज़ेदार नहीं लगता, उसी प्रकार अब आगे चलकर प्रशंसा सुनना भी अधिक मज़ेदार नहीं रहा। यह भी स्थूल सुख है। इसमें भी बाहरवालों का साझा अधिक है, अपनी पूंजी कम। इसलिए उसने संन्यास ले लिया। संसार से वैराग्य हो गया। इसका यह अर्थ नहीं कि भोग को छोड़ दिया या संसार की वस्तुओं को छोड़कर भाग गया। नहीं-नहीं, कदापि नहीं, सच्चा संन्यासी कभी ऐसा नहीं करता। वह संन्यासी इसलिये नहीं हुआ कि भोग को छोड़ दे, किन्तु भोग के सूक्ष्मतम रस को अधिक मात्रा में ले सके। इसलिए अब उसकी प्रवृत्ति ऐसी हो गई कि बिना यश की कामना के ऐसे साधनों का अवलम्बन करता है जिससे संसार की वस्तुएँ अन्य प्राणियों को अधिक सुख देने लगें। औरों को सुख मिल रहा है, वे दुःख की बेड़ियों से छूट रहे हैं और वह बिना प्रशंसा

की इच्छा के चुप अलग बैठा हुआ आनन्दित हो रहा है। वह सुख उसके आत्मा के भीतर से उठ रहा है। कोई नहीं जानता कि इस मनुष्य की प्रशंसा करनी चाहिये। कोई उसके आराम के लिए कष्ट नहीं उठाता। किसी को उससे सम्बन्ध नहीं, परन्तु उसको सबसे सम्बन्ध है। यह संसार का सूक्ष्मतम आनन्द है। इसमें ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। इसी को 'मुमुक्षुत्व' अर्थात् 'मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा' कहते हैं। यही वैराग्य है क्योंकि इसमें संसार की चीज़ों से सीधा प्रेम नहीं रहता।

अब यह देखना है कि 'मुमुक्षुत्व' मुक्ति का साधन कैसे होता है। अब जीव को साधन और साध्य का वास्तविक ज्ञान हो गया तो न्यायदर्शन के कथनानुसार मिथ्याज्ञान के दूर होने से 'दोष' दूर हो जायेंगे।

यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति। प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः। (न्याय, वात्स्यायन भाष्य १।१।१८)

जहाँ मिथ्या ज्ञान है वहीं राग और द्वेषरूपी दोष हैं; परोपकार में राग-द्वेष नहीं होते। जो संन्यासी संसारभर के उपकार के लिए कार्य कर रहा है उसको किसका राग और किससे द्वेष? वह तो दोषरहित हो गया।

जब दोषरहित हो गया तो अब 'प्रवृत्तियों' की बारी है। गौतम जी कहते हैं कि मिथ्या ज्ञान दूर होने के पश्चात् दोष दूर होंगे। दोष के पश्चात् 'प्रवृत्ति', प्रवृत्ति के पश्चात् 'जन्म'। मुमुक्षुत्व प्राप्त होने से पूर्व क्या प्रवृत्ति थी? यही कि अमुक वस्तु मिल जाय। जैसी-जैसी प्रवृत्तियाँ अपने जीवन में बनाई थीं वे सब सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित थीं। उन्हीं के कारण अन्यान्य जन्म होते थे (एक बार पिछले तीन अध्याय पढ़िये और 'सूक्ष्म शरीर' के विषय में जो-कुछ कहा गया है उसकी संगति इससे मिलाइये)। एक दृष्टान्त से यह भलीभाँति समझ में आ जाएगा। आपकी इच्छा नारंगी खाने की है। वह इच्छा इतनी उत्कृष्ट है कि बिना इसकी पूर्ति के

आपको चैन नहीं है। आप उठे, कुछ मजदूरी की, कुछ पैसे मिल गए। बाज़ार में जाकर नारंगी ले आए। बाज़ार में अन्य चीज़ें भी हैं परन्तु उनकी ओर आपने ध्यान नहीं दिया। जिसकी इच्छा बाइसिकल लेने की है, वह भी इसी प्रकार का अन्य व्यापार करेगा, और साइकिल लाएगा। परन्तु यदि एक ऐसा मनुष्य है जिसे केवल बाज़ार देखना है, चीज़ कोई नहीं लेनी, वह उठेगा और बाज़ार को देख आएगा, खरीदेगा कुछ नहीं। इसी प्रकार जब-तक मनुष्य सकाम कर्म करता रहा और सांसारिक वस्तुओं से उसे राग रहा, तब तक उसकी प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर में प्रेरणा करती रहीं और उसने उसी प्रकार का जन्म पाया। जब निरन्तर जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का विकास अधिक विस्तृत हो गया और अपने आध्यात्मिक आनन्द के लिए किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं तो सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की उसे इच्छा भी नहीं रही। उसकी प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे इतनी विशद हो गई कि उनकी वृत्ति बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख हो गई। यह प्रवृत्ति पहले स्थूल शरीर में ही हुई थी। इसलिए स्थूल शरीर तो रहा, किन्तु बहिर्मुख प्रवृत्ति बिल्कुल न रही। यही अवस्था जीवन-मुक्ति की है। यह मोक्ष से इस ओर की बात है।

ऐसे पुरुष का जब स्थूल शरीर छूट गया और सूक्ष्म शरीर अलग हो गया तो उसके सूक्ष्म शरीर में स्वभावतः किसी सांसारिक वस्तु की वासना न रहेगी और वह फिर 'जन्म' से भी छूट जायगा, क्योंकि अब वह दुकान का एकाकी स्वामी है, उसे किसी साक्षी की आवश्यकता नहीं। वह आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त हो गया। ऐसे के लिए ही लिखा है कि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक उ० २।२।८)

अर्थात्—मिथ्याज्ञान दूर हुआ। प्रवृत्ति और दोष का नाश

हुआ। आध्यात्म-जगत् खुल गया। अब कोई संशय शेष नहीं। अब स्थूल शरीर को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। यही मुक्ति है।

आगे मुक्ति में क्या होता है? यह कहना कठिन है। जिस प्रकार अमावास्या की अँधेरी रात में बैठा हुआ मनुष्य दोपहर के सूर्य के विषय में कुछ नहीं जान सकता, उसी प्रकार वृद्धावस्था में मुक्ति का विस्तृत ज्ञान नहीं हो सकता। हम नित्य सुषुप्ति अनुभव करते हैं, परन्तु जाग्रतावस्था में ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि सुषुप्ति में क्या-क्या होता है। इसी प्रकार मोक्ष में और क्या होता है, हम नहीं बता सकते। यह वह पद है जहाँ वाणी बन्द हो जाती है और मन कल्पना करना छोड़ देता है। उपनिषद् कहती है—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते।

□

अध्याय २९

पुनरावर्त्तन अर्थात् मुक्ति से लौटना

गत अध्याय में यह बताया जा चुका है कि जीव के विकास की पराकाष्ठा मुक्ति-अवस्था है। बस, जीव यहीं तक उन्नति कर सकता है। प्रत्येक अन्तवाली वस्तु का अन्त होता है। जीव अन्तवाली वस्तु है। इसका अन्त मुक्ति है। विकास की पराकाष्ठा से तात्पर्य यह है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व को विशद-से-विशद शक्ति प्राप्त हो जाय।

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है—क्या मुक्ति-अवस्था अचल (Static) है या चल (Dynamic)? अर्थात् क्या इसके आगे भी जीव के लिए कुछ करना रहता है? या यहीं ठहर जाना होगा?

जीव के दो लक्षण हमने ऊपर किये हैं, उनमें तो ऐसा पता चलता है कि चरत्व या चलत्व जीव का स्वाभाविक गुण है (The Soul is dynamic by nature); यह न स्वयं ही चर है अपितु जिस प्रकार चुम्बक के शक्ति-संसर्ग से लोहे में भी गति आ जाती है इसी प्रकार जीव अपना चरत्व अचर वस्तुओं को उधार दे देता है। जो चीज़ जीव के संसर्ग में आती है वह अचर से चर हो जाती है। मेरा हाथ यदि कट जाय तो जड़ है; जब तक मेरा सम्बन्ध है यह चेतन है। तलवार जड़ है परन्तु मेरे हाथ में आकर वह भी चेतन-सी हो जाती है। इंजन जड़ है परन्तु रेलवे के ड्राइवर के हाथ में वह चेतन की भाँति कार्य करता है।

जब जीव स्वभावत: चर है तो मुक्ति-अवस्था में उसमें अचरत्व

कैसे आ गया ? प्रथम तो स्वाभाविक गुण बदलता नहीं। दूसरे, यदि मुक्ति-अवस्था को अचल मान लिया जाय तो इसे कभी उन्नति की विकसित या वांछनीय अवस्था नहीं कह सकते और न उसके लिए प्रयत्न करना ही आवश्यक होता है।

हम स्पष्ट कह चुके हैं कि मुक्ति-अवस्था के विषय में मनुष्य को अधिक मालूम नहीं हो सकता। सूर्य का प्रकाश हम तक आता है। हम सूर्य की रश्मियों का परीक्षण भी प्रयोगशालाओं में करते हैं, परन्तु उन्हीं रश्मियों का जो करोड़ों मील की यात्रा के पश्चात् थककर कोमल हो जाती हैं; हमको न तो पता है, न पता लगाने के साधन हैं कि उन रश्मियों का सूर्य के भीतर क्या हाल है। यही दशा मुक्ति की है। कहावत है कि सुषुप्ति-अवस्था मुक्ति-अवस्था का दृष्टान्तरूप है। सांख्यदर्शन में भी है आया कि—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता।

(सां० ५।७६)

अर्थात्—समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति तीनों अवस्थाएँ एक-सी हैं। उनमें जीव को ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है, अर्थात् दुःखों से छूटकर आनन्द मिलने लगता है। परन्तु ये तीनों अवस्थाएँ एक नहीं, केवल एक-सी हैं। जब बाहर सूर्य निकलता है तो कमरे के भीतर कोने का अन्धकार भी कुछ-न-कुछ दूर होता ही है, परन्तु उस प्रकाश से सूर्य के मुख्य प्रकाश का पता तो नहीं चला सकते।

परन्तु मनुष्य का औत्सुक्य वहाँ भी पहुँच जाता है जहाँ मनुष्य स्वयं नहीं पहुँच सकता। इसलिए मुक्ति की बात चाहे कितनी ही अज्ञेय क्यों न हो, मनुष्य में उनके विषय में वादानुवाद करना स्वाभाविक ही है।

यह ठीक है कि यह प्रश्न सर्वसाधारण के दैनिक व्यवहार में कुछ अधिक उपयोगी नहीं है। एक बार एक सज्जन ने एक संन्यासी से पूछा कि 'महाराज! मुक्ति से जीव लौटता है या नहीं?' उन्होंने क्रुद्ध होकर उत्तर किया, 'अरे मूर्ख! पहले मुक्ति तो प्राप्त

कर ले। वहाँ जाकर पूछना कि मैं यहीं रहूँगा या मुझे फिर वापस जाना पड़ेगा।' यह एक व्यावहारिक उत्तर है। जो पुरुष साधारण आचार को भी ठीक करना नहीं चाहते, वे इस प्रश्न पर क्या विचार कर सकते हैं? सूत न कपास, कोरिया से लट्ठम-लट्ठा। परन्तु दार्शनिक रुचि रखनेवालों के लिए प्रश्न कुछ मनोरंजन रखता है।

पहले सभी सम्प्रदाय यही मानते थे कि मुक्ति के पश्चात् जीव शरीर धारण नहीं करता, फिर उसे संसार से कुछ प्रयोजन नहीं रहता; परन्तु आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में विरोध प्रकट किया। उनका मत है कि जीव मुक्ति से लौटता है। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में क्या है यह कहना कठिन है। स्वामी दयानन्द तो कहते हैं कि वैदिक काल के लोग भी मुक्ति से लौटना या पुनरावर्तन सिद्धान्त मानते थे। उनके विरोधी कहते हैं कि यह केवल स्वामी दयानन्द के मस्तिष्क की कल्पना है। यह विषय भौतिक पदार्थ से तो सम्बन्ध रखता नहीं कि प्रयोगशालाएँ कुछ सहायता कर सकें। हाँ, जो लोग इस प्रकार के प्रश्नों में कुछ रस लेते हैं, उनके बीच में दिलचस्प बहस आ पड़ी है।

इस प्रश्न पर प्रकाश डालने से पूर्व यह मालूम करना आवश्यक जान पड़ता है कि लोगों के मुक्ति के विषय में क्या विचार हैं। कुछ लोग जीव के अस्तित्व का नाश ही मुक्ति मानते हैं। उनके मत में जैसे दीपक बुझने पर दीपक की लौ का अस्तित्व नष्ट हो जाता है, उसी तरह आत्मा भी नष्ट हो जाती है। जब अस्तित्व ही न रहा तो अचलत्व का प्रश्न कहाँ रहा? और लौटने का प्रश्न भी दीपक की लौ की भाँति ही बुझ गया। यह लौ मरने पर क्यों नहीं बुझती और उसको बुझाने के लिए इतना घोर परिश्रम क्यों करना पड़ता है? यह एक कठिन प्रश्न है। फिर लौ बुझने पर जीव अमर तो नहीं हुआ। मुमुक्षुत्व तो अमर होने के लिए है। जीने का यत्न तो सब करते हैं, मरने का कोई अभागा या उन्मत्त ही करता होगा। यह बात जीव की प्रवृत्ति के भी विरुद्ध है, क्यों-

कि जीने की इच्छा स्वाभाविक है, मरने की अस्वाभाविक। कम-से-कम जिस जीव का प्रतिपादन हमने इस पुस्तक में किया है वह तो नित्य और अमर ही है। इसलिए उसका सदा के लिए बुझ जाना कैसा ?'

कुछ लोगों का मत है कि जीव नष्ट तो नहीं होता, ब्रह्म में लय हो जाता है। ब्रह्म में लय हो जाने का मुख्य अर्थ क्या है, इसपर शायद ही किसी ने विचार किया हो। इस विचार के लोग मुण्डकोपनिषत् का यह वचन कहा करते हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

(मुण्डक उप० ३।२।८)

अर्थात्—जैसे नदियाँ समुद्र में गिरकर अपना नाम और रूप छोड़ देती हैं, उसी प्रकार विद्वान् अपने नाम और रूप को छोड़कर ईश्वर को प्राप्त हो जाता है।

इसमें अस्तित्व के नष्ट होने का तो कथन है नहीं। केवल नाम और रूप से मुक्त होने मात्र का कथन है। उपनिषत् यह तो कहती नहीं कि जीव की मुक्ति में अस्तित्व मिट जाता है। उपनिषद् का तात्पर्य तो यह है कि विद्वान् पुरुष मुक्त होकर नाम और रूप के पचड़े से अलग हो जाता है। उपमा एकदेशी होती है,

---

१. श्री रामानुजाचार्य के वेदान्त २।१।१५ के भाष्य का यह उद्धरण विचारणीय है—

किं च जीवाश्रयाया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानोदयान् नाशे सति जीवो नश्येद् वा न वा। यदि नश्येत् स्वारूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात्। नो चेदविद्या नाशेऽप्यनिर्मोक्षः। ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तजीवत्वावस्था नात्।

—जीव की अविद्या के नाश होने पर जीव का भी नाश होता है या नहीं ? यदि होता है तो स्वरूप के नाश का भी मोक्ष हुआ। और यदि नहीं होता तो अविद्या के नाश होने पर भी मुक्ति न होगी, क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप से अलग तो जीव का स्वरूप है ही नहीं।

अतः 'लय' से 'भौतिक लय' का अर्थ लेना अनुचित ही होगा। यदि माना जाय कि जीव अपना अस्तित्व खो बैठता है तो ऐसी लय नाश के ही तुल्य होगी, क्योंकि ब्रह्म तो जैसा पहले था वैसा ही अब रहा। केवल जीव का अस्तित्व मिट गया। यदि जीव का अस्तित्व रहता है और यदि हमारे कथनानुसार मुक्ति एक अवस्था-विशेष का ही नाम है तो यह प्रश्न उठता ही है कि मुक्ति से जीव लौटता है या नहीं ?

जो लोग मुक्ति से लौटता नहीं मानते वे यह प्रमाण देते हैं—

(१) **अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।**

(वेदान्त ४।४।२२)

अर्थात्—(व्यास जी कहते हैं कि) 'जीव के न लौटने में श्रुति का प्रमाण है।

(२) **न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यानावृत्तिश्रुतेः।**

(सांख्य ६।१७)

अर्थात्—'श्रुति का प्रमाण है कि मुक्त जीव की फिर आवृत्ति (लौटना) नहीं होती।'

(३) **क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।** (श्वेताश्वतर उपनिषत्)

अर्थात्—ईश्वर के ध्यान से अन्य में सब मायावी निवृत्ति हो जाती है।

(४) **स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।**

(कठोपनिषत् १।३।८)

—यह (विज्ञान की प्राप्ति करके) जीव उस पद को पा जाता है जहाँ से फिर जन्म नहीं होता।

(५) **स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। न च पुनरावर्त्तते, न च पुनरावर्त्तते।**

(छान्दोग्य उपनिषद् ८।१५।१)

मुक्त आत्मा आयुपर्यन्त ब्रह्मलोक में रहता है। फिर लौट-

कर नहीं आता।

जो पुनरावर्त्तन के सिद्धान्त को मानते हैं उनका कहना है कि न लौटने का यह कथन केवल नियत काल से ही सम्बन्ध रखता है, अर्थात् कुछ नियत काल है, उस समय तक मुक्ति से जीव नहीं लौटता, पश्चात् लौट आता है। स्वामी दर्शनानन्द ने इस मत की पुष्टि में छान्दोग्य का अन्तिम वाक्य दिया है। वह कहते हैं कि उपनिषद्-वाक्य में—**'यावत् आयुषं ब्रह्मलोकं'** ऐसा पाठ है। इसका अर्थ है कि ब्रह्मलोक अर्थात् मुक्ति की जो अवधि है (यावत् आयुषं) उस समय तक नहीं लौटता। वह ब्रह्मलोक अर्थात् मुक्ति की एक अवधि मानते हैं और **'न च पुनरावर्त्तते'** (फिर नहीं लौटता है) इस पद की संगति 'यावत् आयुषं' से मिलाते हैं। उनके विपक्षी कहते हैं कि **'यावदायुषं'** का अर्थ है **'सदा'**। स्वामी दर्शनानन्द कहते हैं कि **'आयुषं'** (जीवन) शब्द से अवधि का ही बोध होना चाहिए; 'सदा' के लिए 'आयु' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता।

स्वामी दयानन्द ने पुनरावर्त्तन की पुष्टि में मुण्डक उपनिषद् का एक वाक्य दिया है—

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्। परिमुच्यन्ति सर्वे।

(मु० ३।२।६)

अर्थात्—वे मुक्त जीव ब्रह्मलोक में परान्त काल तक रहकर फिर 'परिमुच्यन्ति' अर्थात् लौटकर आते हैं।

आजकल जो मुण्डक उपनिषदें मिलती हैं उनमें 'परामृतात्' के स्थान में 'परामृताः' (प्रथमा विभक्ति) है और इसके आधार पर 'परिमुच्यन्ति' का अर्थ करते हैं 'सब प्रकार से छूट जाते हैं।' स्वामी दयानन्द ने किस मुण्डकोपनिषद् में 'परामृतात्' पाठ देखा यह ज्ञात नहीं, परन्तु कैवल्य उपनिषद् में 'परामृतात्' पाठ ही आया है। स्वामी हरिप्रसाद ने वेदान्तभाष्य में यह कहकर टाल दिया है कि 'कैवल्य उपनिषद्' प्रामाणिक उपनिषदों में नहीं है—

ईशाद्याः श्वेताश्वतरपर्यन्ता हि दशोपनिषदो वैदिकैः प्रमाणं

मन्वन्ते न कैवल्य जाबालाद्याः ॥ (वेदान्तसूत्र वैदिक वृत्तिः)

किसी-किसी कैवल्य उपनिषद् में 'परामृतात्' के स्थान में 'परामृताः' ही है। इससे हम तो यह नतीजा निकालते हैं कि दोनों उपनिषदों की भिन्न-भिन्न प्रतियों में पाठभेद है। 'परामृताः' और 'परामृतात्' के झगड़े को छोड़ भी दिया जाय तो 'परान्त-काले' शब्द उतना ही युद्ध-स्यल बन सकता है, क्योंकि सृष्टि की आयु की गणना में 'परान्तकाल' पारिभाषिक (Technical) शब्द है, नित्य का बोधक नहीं।

वेदान्तदर्शन के अन्तिम पाठ में मुक्ति के विषय में जो कुछ मत स्थापित किया गया है, उससे भी इस बात का निर्णय सुगमता से नहीं होता कि मुक्ति की अवधि है या नहीं। क्योंकि, जहाँ एक बात में मतैक्य हो और दूसरी में मतभेद, वहाँ दोनों पक्षों को कुछ-न-कुछ कहने की गुंजाइश रहती है। एक और बात विचारणीय है। जो लोग मुक्ति से पुनरावर्तन नहीं मानते, वे भी स्वर्ग से लौटना अवश्य मानते हैं। यह स्वर्ग क्या है इसका ठीक-ठीक पता चलाना कठिन है, क्योंकि 'स्वर्ग' शब्द भिन्न-भिन्न युगों के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, कहीं सीधे अर्थों में और कहीं आलंकारिक भाषा में। भाषाविज्ञान के पंडित जानते हैं कि आलंकारिक अर्थों का आलंकारिक स्वरूप कभी-कभी लुप्त हो जाता है और इस प्रकार अर्थों में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। 'स्वर्ग' शब्द का भी यही हाल है।

प्रश्न उठता है कि स्वर्ग किसी स्थान-विशेष का नाम है, या योनि-विशेष का, या अवस्था-विशेष का?

यदि स्वर्ग स्थान-विशेष का नाम है तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वहाँ से जीव लौटता है या नहीं। संसार में सभी स्थान स्वर्ग हो सकते हैं। कौन-सा स्थान है जहाँ जीव सुखी नहीं होता और कौन-सा स्थान है जहाँ जीव को दुःख नहीं हो सकता? यदि किसी सुरम्य स्थान का नाम स्वर्ग हो, जैसे हिमालय पर्वत या राजप्रासाद आदि, तो यह काल्पनिक नाम है, इसका मुक्ति या

पुनरावर्तन के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं।

यदि स्वर्ग योनि-विशेष का नाम है तो प्रश्न यह है कि यह योनि मनुष्य की योनि से नीची है या ऊँची? या मनुष्य-योनि के ही अन्तर्गत राजा आदि की योनि है जिसमें सुख अधिक हो? दूसरी बात यह कि चाहे यह योनि मनुष्य की योनि से ऊँची हो चाहे नीची, इसकी गणना पुनर्जन्म-सम्बन्धी योनियों के अन्तर्गत हो जाएगी और जिस प्रकार अन्य योनियों में सिलसिला है उसी प्रकार स्वर्ग की योनि में भी होगा।

यदि स्वर्ग अवस्था-विशेष का नाम है तो यह बताना चाहिये कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति से इतर कौन-सी अवस्था है? क्योंकि, जीव इन्हीं अवस्थाओं में रहता है। मुमुक्षुत्व और जीवन-मुक्ति भी इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती है। हमारी धारणा तो यह है कि जहाँ स्वर्ग लौकिक अर्थों में नहीं आया वहाँ इससे मुक्ति से ही तात्पर्य है। पहले उससे लौटने का सिद्धान्त प्रचलित रहा होगा, पीछे से बौद्धमत तथा अद्वैतवाद की दार्शनिक उलझनों में पड़कर मुक्ति और स्वर्ग के भिन्न-भिन्न अर्थ हो गए। यह हमारा संकेतमात्र है, इसका अनुसन्धान करना चाहिये। **छान्दोग्य उपनिषद् के पहले खण्ड के आठवें अध्याय की आख्यायिका** हमारी धारणा की पुष्टि करती प्रतीत होती है। वहाँ स्वर्ग शब्द आया है—

अमुष्य लोकस्य का गतिरिति ? न स्वर्गं लोकमतिनयेत् इति होवाच। चैकितायन दालभ्य।

चैकितायन दालभ्य से जब पूछा गया कि उस लोक (परलोक) की क्या गति है? अर्थात् परलोक के पीछे क्या है तो उसने उत्तर दिया—**'न स्वर्गं लोकमतिनयेत्'**—स्वर्ग से आगे मत पूछो! अर्थात् यहाँ जीव की अवस्था के दो भाग किये गये—एक यह लोक अर्थात् आवागमन का चक्र, और दूसरा परलोक अर्थात् मोक्ष। इससे आगे कोई अवस्था ही नहीं।

शिलक शालावत्य इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होता। वह अपने

साथी को आगे ले-जाना चाहता है। वह चैकितायन दालभ्य से कहता है कि यदि इतना ही उत्तर दोगे तो तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा। इसपर चैकितायन दालभ्य शिलक शालावत्य से पूछता है कि तुम्हीं बताओ कि—

'अमुष्य लोकस्य का गतिः ?'—उस लोक की क्या गति है ?

इसपर शिलक शालावत्य को उत्तर देता है कि—**'अयं लोक इति।'**—अर्थात् 'यह लोक।'

तात्पर्य यह है कि मोक्ष-अवस्था, या परलोक, या परमपद, जीव की वह अवस्था नहीं है जहाँ जीव ठहरा रहे और आगे के लिए निश्चल हो जाय। इस लोक के पीछे परलोक और परलोक के पीछे ये लोक आते रहते हैं।

यजुर्वेद के तीसरे अध्याय का ६०वाँ मन्त्र भी इसी सम्बन्ध में है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमाऽमृतात्॥

(यजु० ३।६०)

अर्थात्—मैं तीनों लोकों के पिता* से प्रार्थना करता हूँ जो आनन्दप्रद और बल का दाता है, वह मुझे मृत्यु के बन्धन से इस प्रकार छुड़ा दे जैसे पका फल अपने डंठल से छूटकर (बिना कष्ट के) गिर पड़ता है, परन्तु मुझे अमृतपद से दूर न करे।

पुनरावर्त्तन-सिद्धान्त के माननेवालों का कहना है कि इस मन्त्र में 'अमृतात्'-पद 'मुक्ति' का बोधक है। यदि मुक्ति से लौटना सम्भव न होता तो ऐसी प्रार्थना क्यों की जाती ?

हम यहाँ शब्द-प्रमाण को विश्राम देते है और अपने आरम्भिक प्रश्न पर आते हैं, अर्थात् यदि मुक्ति अनन्त विश्राम की अवस्था है तो उसमें मनुष्य का स्वाभाविक गुण 'चरत्व' छूट जाना

***त्रयाणां लोकानामम्बः पिता स्वार्थेकन्।**

(वेदान्तसूत्र वैदिकवृत्तिः, स्वामि हरिप्रसादकृत)

चाहिये। जो जीव सब जड़ पदार्थों को चरत्व दे, उसका चरत्व परमपद पर पहुँचकर क्यों नष्ट हो जाय ? जो कहते हैं कि 'मुक्ति' में जीव आनन्द मानता है वह वहाँ से लौटकर क्यों आवे ? वस्तुत: वे जीव को केवल भोक्ता मान बैठते हैं। उसके 'कर्तृत्व'-गुण को वे सर्वथा भुला देते हैं। परब्रह्म के सम्पर्क से कर्तृत्व-गुण का भी विकास होना चाहिये था। पहले वह स्वार्थवश कर्म करता था। जब स्वार्थ कम हुआ तो मुक्ति हुई। अब उसे पूर्ण निःस्वार्थभाव से कर्म करना चाहिये जैसे ब्रह्म करता है। केवल भोग ही शेष रह जाना जीव की उन्नति नहीं, किन्तु अवनति है।

शायद कुछ लोग कहें कि भोग नाम इन्द्रिय-जन्य सुख के भोग का है, परम आनन्द के भोग को भोग नहीं कहते। यहाँ स्मरण रहे कि भोग के उपकरण और भोग में भेद है। जो पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य है और जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है उनमें भले ही भेद रहे, परन्तु भोक्ता तो दोनों अवस्थाओं में जीव ही रहेगा। एक सुख क्षणिक है और दूसरा अधिक अस्थायी। एक सूक्ष्म है और दूसरा स्थूल। परन्तु जीव के भोक्तृत्व में क्या भेद पड़ा ?

दूसरी बात यह है कि यदि मुक्ति एक अवस्था का नाम है तो जिस अवस्था का आरम्भ हुआ उनका अन्त भी होना चाहिये। सुषुप्ति का आरम्भ और अन्त, दोनों हैं। सुषुप्ति में भी आनन्द की छाया रहती है। परन्तु कोई पुरुष मात्रा से अधिक सो नहीं सकता। उसका कर्तृत्व-गुण, जो अबतक तिरोभूत-सा हो गया था, फिर आविर्भूत होता है और जीव को जाग्रतावस्था में आने के लिए बाधित करता है। कौन चाहता है कि उसका गुण तिरोभूत हो जाय ? सुषुप्ति विश्राम के लिए है। सुषुप्ति में वे सब शक्तियाँ, जो जाग्रतावस्था में काम करते-करते थक गई थीं, फिर ताजा हो जाती हैं। सुषुप्ति जाग्रत् के लिए है, जाग्रत् सुषुप्ति के लिए नहीं। इसी प्रकार मुक्ति-अवस्था में जीव की शक्तियाँ और ताजा हो जाती हैं जिनका सर्वथा निःस्वार्थभाव से अन्य जीवों के लिए प्रयोग करना चाहिये। सुषुप्ति एक अवस्था है, उसका अन्त

है। मोक्ष भी एक अवस्था है, उसका भी अन्त है। अवधि का प्रश्न भिन्न-भिन्न है।

अब एक प्रश्न रहता है—जीव मुक्ति से क्यों लौटे ? हमारा उत्तर यह है कि अपने स्वार्थ के लिए नहीं, किन्तु दूसरों के उपकार के लिए। जिस प्रकार ईश्वर सृष्टि अपने लिए नहीं बनाता किन्तु उन जीवों के लिए बनाता है जिनके विकास के लिए सृष्टि की आवश्यकता है, उसी प्रकार मुक्त जीव भी अपनी अवस्था को छोड़कर अन्य जीवों के विकास में सहायता करने के लिए आते हैं। वे गुरु बनकर आते हैं, शिष्य बनकर नहीं। वे अपना विकास करने नहीं आते, किन्तु दूसरों के विकास में सहायता करने के लिए आते हैं।

वैदिक साहित्य में योनियाँ तीन प्रकार की मानी गई हैं—(१) भोगयोनि, जैसे पशुपक्षी। (२) उभय योनि अर्थात् भोग-योनि और कर्मयोनि का मिश्रण, जैसे मनुष्य। (३) कर्मयोनि।

तीसरी (कर्म) योनि उन मुक्त पुरुषों की है जो मुक्ति से लौटते हैं। उनका भोग तो परमानन्द मात्र है। उनको सांसारिक भोग की आवश्यकता नहीं। परन्तु उनका कर्म करना उन जीवों के लिए है जो जगत् में जन्म-मरण के बन्धन में पड़े हुए हैं। ये जीव वैदिक शास्त्र के अनुसार कल्प के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि में जन्म लेते हैं और अन्य जीवों को कुमार्ग से बचाकर सुमार्ग पर चलाना इनका कर्त्तव्य होता है। वे इस काम को बड़ी योग्यता से करते हैं क्योंकि उनके समस्त स्वार्थ-भाव मुक्ति के पूर्व ही भस्म हो जाते हैं और मुक्ति की अवस्था में रहके उनका आत्मा दूसरों के उपकार के लिए और सुदृढ़ हो जाता है। ऐसे ही जीव जगद्-गुरु होने के अधिकारी हैं।

मुक्ति से पूर्व और मुक्ति से पीछे की अवस्था में कुछ भेद है। निज रूप से तो दोनों अवस्थाएँ एक-सी हैं, परन्तु मुक्ति से पूर्व बन्धन की अवस्था निकट थी, अब बन्धन की अवस्था से बहुत दूर हो गए। यही विशेषता आ गई।

अब एक प्रश्न रह गया—यदि जन्म लिया तो मृत्यु तो अवश्य होगी; इसका अर्थ यह हुआ कि मुक्त जीवों को बिना अपराध के फिर जन्म-मरण का दुःख भोगना पड़ेगा? परन्तु नहीं, इस प्रश्न की असारता तो स्पष्ट ही है। देह-ग्रहण और देह-त्यागमात्र का नाम जन्म-मरण का दुःख नहीं है। अब जीवन-मुक्ति के पश्चात् और मुक्ति से ठीक पूर्व देह-त्याग करना होता है तो उसमें मृत्यु का दुःख नहीं होता है। देह-त्याग बुरा नहीं है, परन्तु मुक्ति का दुःख बुरा है। ज्ञानी पुरुष उसी प्रकार मरते हैं जैसे वेदमन्त्र के कथनानुसार पका फल वृक्ष से टूट पड़ता है। कच्चा फल तोड़ने में कुछ रस-स्राव अवश्य होता है, परन्तु पका फल वृक्ष पर रह ही नहीं सकता। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मरते समय दुःख नहीं अनुभव करते। जब जीवनमुक्त पुरुषों को देहत्याग का दुःख नहीं होता, तब उन मुक्त पुरुषों को क्यों होना चाहिये जो सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए?

हाँ, एक बात अवश्य है। यह इनकी कर्मयोनि है। कर्मयोनि के दो परिणाम हो सकते हैं—यदि कर्म करने में एक भी त्रुटि न हुई तो वह जीवन जीव-मुक्ति का ही काम देगा और देह-त्याग के पश्चात् फिर मुक्त-अवस्था का आरम्भ हो जायगा। यदि त्रुटि हो गई तो कर्म का बन्धन फिर आरम्भ हो जायगा, और आगे चलकर जीवों के समान उनका भी हाल रहेगा। वे विकास की जिस सीढ़ी पर होंगे, उसी के अनुसार कार्य होगा।

कुछ लोग कहेंगे कि यह सब कल्पना-मात्र है। इसका हमारे पास कोई उत्तर नहीं। हम आरम्भ में ही कह चुके हैं कि परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में अधिक कहना असम्भव है। हमारे विचार में शास्त्र के वाक्यों की जिस प्रकार संगति लग सकती थी वह हमने लगा दी। पाठक अपने लिए स्वयं निर्णय कर लें।

□

अध्याय ३०

जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में बहुत-से मत हैं। सर्व-साधारण की तो ऐसी धारणा है कि जिस प्रकार ब्रह्म समस्त सृष्टि को बनाता है, उसी प्रकार जीव को भी बनाता है। ईश्वर हमारा बाप है, हम उसके पुत्र हैं—यह एक सर्वप्रचलित वाक्य है। जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, उनके लिए तो यह प्रश्न कुछ महत्त्व नहीं रखता, परन्तु जो जीव और ब्रह्म दोनों के अस्तित्व को मानते हैं उनके लिए इस सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ विचार आवश्यक है।

'ईश्वर हमारा बाप है' यह एक लौकिक उपमा है। क्या लौकिक बाप हमको बनाता है? कदापि नहीं। कोई बाप यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने अपने पुत्र-पुत्रियों को बनाया है। वह केवल उनके जीव और शरीर के सम्बन्ध में साधनमात्र होता है। यह तो एक मोटी-सी बात है कि यदि बाप अपने बेटे को बनाने-वाला होता तो उसे उसके शरीर या मस्तिष्क के भीतर का हाल भी ज्ञात होता। परन्तु कोई बाप यह नहीं जानता कि उसके पुत्र के शरीर के किस भाग में कितनी हड्डियाँ हैं। इसके अतिरिक्त यदि लौकिक बाप को अपने पुत्र का बनानेवाला मान लें, तो ईश्वर को बाप मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि हमारे लौकिक पिता ने ही हमको बनाया है तो ईश्वर को पिता कहना निरर्थक हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'पिता' की उपमा से यह सिद्ध नहीं होता कि जीव का अस्तित्व पहले न था, ईश्वर ने उसे उत्पन्न कर दिया।

जो लोग ब्रह्म को जीव का बनानेवाला मानते हैं, वे इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे सकते कि ब्रह्म ने जीव को क्यों और किसलिए बनाया। ब्रह्म को पूर्ण निर्दोष और आवश्यकता-शून्य बताया जाता है। यदि वस्तुतः ब्रह्म ऐसा ही है तो उसको जीव के बनाने की क्या आवश्यकता थी ? यदि उसने जीव न बनाए होते तो दुःख और पाप दोनों का संसार में नाम न होता, क्योंकि दुःख जीव ही भोगते हैं और पाप जीव ही करते हैं। इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये जाते हैं। कोई कहता है कि ईश्वर ने अपनी प्रार्थना के लिए जीव बनाया, कोई कहता है अपनी शक्ति (कुदरत) दिखाने के लिए, कोई कहता है अन्य जीवों पर दया करने के लिए, कोई कहता है कि मोक्ष का सुख भोगने के लिए। परन्तु ये सन्तोषजनक उत्तर नहीं हैं। यदि ईश्वर अपनी प्रार्थना के लिए जीव को बनाता है तो इसमें उसका स्वार्थ पाया जाता है। यदि अपनी शक्ति दिखाने के लिए तो अपने से छोटों को अपनी शक्ति दिखाना कौन-सी बड़ी बात है ? ईश्वर के बराबर या उससे बड़ा कोई है नहीं। यदि अन्य जीवों पर दया करने के लिए, तो भी वही प्रश्न है कि यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है कि पहले पीड़ित जीवों को बनाया जाय, फिर उनसे सहानुभूति करने के लिए दूसरे जीवों को ? पहले रोग उत्पन्न कर दो, फिर दवा करते फिरो ! यदि कहो कि मोक्ष का सुख भोगने के लिए, तो भी यह कोई अच्छी बात नहीं, क्योंकि मोक्ष का सुख विरले ही भोगते हैं, अन्य को तो दुःख ही उठाना पड़ता है। इसलिए यह मानना कि ईश्वर ने जीव को बनाया, सुसंगत नहीं।

ईसाई और मुसलमान मानते हैं कि उनकी धर्म-पुस्तकों में ईश्वर को जीव का बनानेवाला बताया है। यदि वे ऐसा मानते हैं तो मानें उनको अधिकार है, उन्हीं के ऊपर इन प्रश्नों का उत्तरदातृत्व भी है। परन्तु हमारी धारणा यह है कि इन धर्म-ग्रन्थों में ईश्वर को जीव का बनानेवाला नहीं बताया गया। जहाँ कहा है कि हमने तुमको बनाया, वहाँ मनुष्य से तात्पर्य है। मनुष्य

जीव नहीं, किन्तु जीव और देह का संयोग है। कुरान शरीफ़ और होली बाइबल में जहाँ आदमी की उत्पत्ति का वर्णन है वहाँ आदम के शरीर के बनाने का तो उल्लेख है, परन्तु आदम के जीव के बनाने का उल्लेख नहीं। वहाँ तो केवल इतना है कि शरीर बन चुका तो ईश्वर ने प्राण (Breath) या रूह को उसके भीतर फूँक दिया और आदम जीती जान हो गया। यह प्राण या रूह फूँके जाने से पहले था या नहीं, यह एक सुसंगत प्रश्न है और इसका उत्तर मिलना चाहिये। यदि प्राण का अर्थ केवल वायु है तो प्याज़ के छिलकों के समान बहुत-से प्रश्न उठ सकते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि चाहे ब्रह्म ने जीव को बनाया या नहीं, अब उसका उसके साथ क्या सम्बन्ध है? क्या जीव को कर्म की स्वतन्त्रता है? क्या ब्रह्म उसके कामों में हस्तक्षेप करता है? यदि करता है तो कितना? जितने सुख-दुःख संसार में जीव को भोगने पड़ते हैं उनमें कितना हाथ ईश्वर का है और कितना जीव का?

इन प्रश्नों को सुलझाने के लिए संसार के सभी दार्शनिकों ने कुछ-कुछ विधि निकाली है। कौन विधि उपयोगी है इसका निर्णय आप करें।

श्री शंकराचार्य जी का उत्तर यह है कि ब्रह्म और जीव में 'तादात्म्य'-सम्बन्ध है, अर्थात् जीव ब्रह्म है, इनमें कोई भेद नहीं। संसार में जो भेद-भाव दीखता है वह मिथ्या है, भ्रम है, अविद्या या माया के कारण है। जीव स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, सत्य, ज्ञान, अनन्त है। वह मायावश अपने को अशुद्ध, अबुद्ध, बद्ध, अज्ञ और सान्त मान लेता है। जब इसको ज्ञात हो जाता है तो फिर यह अपने को ब्रह्म समझने लगता है। न कुछ बनता है, न कोई बनाता है। यह सब समझ का फेर है।

पाश्चात्य देशों में भी इस प्रकार का विचार लोगों में प्रचलित था। अरस्तू की साक्षी है कि पाश्चात्य देशों का सबसे पहला अद्वैत-वादी ज़ेनोफिन (Zenophanes) था। इसका सिद्धान्त था कि "सब एक हैं और एक ईश्वर है।" इसके पश्चात् इलियाटिक

दार्शनिकों ने भी इसी मत की पुष्टि की है। पार्मेनीडीज (Parmenides) कहता है कि असत् से सत् उत्पन्न हो ही नहीं सकता और न सत् से असत् हो सकता है, इसलिये न कुछ बनता है न बिगड़ता है। या जो कुछ बनता-बिगड़ता दिखाई देता है, यह सब भ्रम है; दृश्य है, तत्त्व नहीं। इसी का अनुयायी ज़ीनो (Zeno) हुआ है जिसका कथन था कि गति कोई तात्त्विक चीज़ नहीं, भ्रम है।

इतना कहना तो सरल है, परन्तु इतने मात्र से उलझन सुलझती नहीं। यदि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य है और इनसे भिन्न कोई वस्तु है नहीं तो भ्रम, अविद्या या माया कैसे उत्पन्न हो गई और वे कौन-से कारण थे जिन्होंने ब्रह्म को भ्रमयुक्त होकर जीव बन जाने के लिए बाधित किया? शंकराचार्य जी का कहना है कि माया न सत् है न असत्, यह अनिर्वचनीय है। इसलिए इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि माया कैसे और कब उत्पन्न हुई। जो चीज़ सत् नहीं है उसके सम्बन्ध में कैसे पूछ सकते हैं कि वह कब पैदा हुई और कहाँ? परन्तु यह उलझन को सुलझाता नहीं, किन्तु और अधिक बढ़ा देता है। यदि माया है ही नहीं तो उसने जीव को ब्रह्म कैसे बना दिया? यह भ्रम उत्पन्न क्यों हो गया कि मैं जीव हूँ? इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि लोगों को अपने जीव होने का विश्वास है। मैं स्वयं अपने को ईश्वर नहीं समझता। आप कह सकते हैं कि यह तुम्हारा भ्रम है। हो! इससे क्या? पूछना तो यह है कि मुझे यह भ्रम हुआ कैसे? मायावाद इस उलझन को सुलझा नहीं सका। इस सम्बन्ध में श्री रामानुजाचार्य का उद्धरण पढ़ने योग्य है—

किं चाविद्या कल्प्यस्य जीवस्य कल्पकः क इति निरूपणीयम्। न तावदविद्या। अचेतनत्वात्। नापि जीवः। आत्माश्रयदोषप्रसंगात् शुक्तिकारजतादिवदविद्याकल्प्यत्वाच्च जीवभावस्य। ब्रह्मैव कल्पकमिति चेद् ब्रह्माज्ञानमेवायातम्। किं च ब्रह्माज्ञानानभ्युपगमे किं ब्रह्म जीवान् पश्यति न वा। न पश्यति चेदीक्षापूर्विका विचित्रसृष्टिर्नामरूपव्याकरणमित्यादि ब्रह्मणो न

स्यात् । अथ पश्यति । अखण्डैकरसं ब्रह्मानाद्यविद्यामन्तरेण जीवान् पश्यतीतिब्रह्माज्ञानप्रसंगः । (श्रीभाष्य वेदान्तदर्शन २।१।१५)

अर्थात्—यदि अविद्या के कारण जीवमात्र की कल्पनामात्र हो जाती है तो प्रश्न यह होता है कि कल्पना करनेवाला कौन है ?

अविद्या तो कल्पना कर नहीं सकती, क्योंकि जड़ है ।

जीव भी कल्पना नहीं कर सकता, क्योंकि आत्माश्रय-दोष आवेगा । कल्पना करे तब तो जीव बने ! जब जीव बना ही नहीं तो कल्पना किसने की ? जैसे सीपी में चाँदी की कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार कल्पना करने के पश्चात् तो जीव-भाव उत्पन्न होता है ।

यदि कहो कि कल्पना करनेवाला ब्रह्म ही है तो ब्रह्म में अज्ञान आएगा ।

यदि मानो कि ब्रह्म में अज्ञान नहीं है तो प्रश्न होता है कि ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं ? अगर कहो कि नहीं देखता तो शास्त्र का यह वचन कैसे बनेगा कि यह विचित्र सृष्टि ईक्षणपूर्वक है ? क्यों कहा है कि मैं नाम और रूप को बनाऊँ ?

अगर कहो कि देखता है तो अखण्ड एकरस ब्रह्म अनादि अविद्या के बिना जीवों को देखता है। इससे ब्रह्म अज्ञानी हो जायगा ।

फिर यदि ब्रह्म और जीव का तादात्म्य माना जाय तो ईश्वर-उपासना के लिए तो कोई स्थान ही शेष नहीं रहता। बहुत-से विद्वानों की राय है कि शंकर के मत में यह बहुत बड़ी त्रुटि है कि उपास्य-उपासक-भेद नहीं। फिर उपासना का क्या प्रश्न ? मैं अपना ही उपासक नहीं बन सकता । यदि जीव वस्तुत: ब्रह्म है ही तो वह किसकी उपासना करे और किसलिये करे ? अगर मुझे रस्सी में साँप की भाँति भ्रम हो गया है तो मैं किसकी उपासना करूँ कि वह मुझे इस भ्रम से छुटकारा दे ? क्योंकि मैं ही तो हूँ, अन्य कौन है ?

श्री शंकराचार्य जी ने इसका इलाज निकाला है। उपासना

की आवश्यकता का वह भी अनुभव करते हैं। वह भी ईशोपनिषत् की इस प्रार्थना को निरर्थक नहीं समझते—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

अर्थात्—चमकीले पात्र से सचाई का मुँह ढका हुआ है। हे ईश्वर! मुझ सत्यधर्मवाले के लिए सत्यधर्म देखने के प्रयोजन से इस पात्र को हटा दे।

श्री शंकराचार्य जी 'सत्यधर्माय' का अर्थ करते हैं—

सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम् अथवा यथा भूतस्य धर्मस्यानुष्ठान्ने दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये। (ईश उप० का शांकर भाष्य)

यहाँ 'सत्य धर्माय' के दो अर्थ किये—'तुझ (ब्रह्म) सत्य की उपासना जिससे मेरा धर्म सत्य हो गया है उसके लिए।' या 'तू, जो सत्य है, उसकी प्राप्ति के लिए।' दोनों दशाओं में उपासना आवश्यक है। परन्तु जब जीव स्वयं ब्रह्म है तो यह उपासना का भाव कैसा? शंकर का मत यह है कि उपासना व्यवहार-दशा में की जाती है, परमार्थ-दशा में नहीं।

श्री शंकराचार्य जी के पास एक ऐसी 'रामबाण' औषधि है जिससे वह सभी रोगों की चिकित्सा करना चाहते हैं। जिस वेद-मन्त्र को या वेदान्त के जिस सूत्र को चाहा व्यावहारिक बता दिया।

परन्तु बहुत-से विद्वान् शंकर स्वामी से सहमत नहीं होते। वे कहते हैं कि प्रथम तो कोई प्रमाण नहीं कि अमुक श्रुति व्यवहार-दशा की है और अमुक परमार्थ की। दूसरे, जब ब्रह्म ही माया के कारण जीव बन गया है तो ये दशाएँ ही क्यों हैं? यदि व्यवहार-दशा मिथ्या है तो उसके उपदेश ही क्यों? यदि सीप में चाँदी की प्रतीतिमात्र होती है तो ऐसे भ्रम देखनेवाले को क्यों कहो कि सुनार को बुला लाओ, इस चाँदी का आभूषण बनेगा? मौलिक उलझन का कुछ भी समाधान नहीं होता।

श्री रामानुजाचार्य जीव-ब्रह्म का अन्य ही सम्बन्ध बताते हैं। वह न जीव को ब्रह्म कहते हैं न ब्रह्म से पृथक् ही। उनके मत में जीव ब्रह्म का प्रकार (Mode) मात्र हैं। इस मत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। न्याय-सिद्धांत में विशिष्टाद्वैत की व्याख्या यह की गई है—**विशिष्टस्य विशिष्टरूपेण अद्वैतम्**। अर्थात्—जो विशिष्ट पदार्थ है उसका विशेषरूप से अद्वैतभाव।

शायद पाठकवर्ग 'प्रकार' शब्द का अर्थ न समझे हों। प्रकार (Mode) वह है जो अपने अस्तित्व के लिए दूसरे के अस्तित्व के आश्रय हो। श्री रामानुज ने जीव को ब्रह्म का प्रकार बताया है। प्रकार-प्रकारी के तीन अर्थ हैं—(१) विशेष-विशेषी-भाव, (२) शरीर-शरीरी-भाव, (३) शेष-शेषी-भाव।

विशेष-विशेषीभाव का तात्पर्य यह है कि जैसे मेज़ में लम्बाई और चौड़ाई है। यह लम्बाई-चौड़ाई मेज़ से अलग पदार्थ नहीं और न इसका मेज़ से तादात्म्य है, परन्तु लम्बाई और चौड़ाई मेज़ का प्रकार है। इसी प्रकार चित् और अचित्, अर्थात् चेतन और जड़ न तो ब्रह्म है, न ब्रह्म से अलग, किन्तु ब्रह्म के प्रकार हैं। जिस प्रकार शरीरी शरीर में व्यापक है, इसी प्रकार जीव में ईश्वर व्यापक है, और जिस प्रकार कार्य में कारण रहता है उसी प्रकार ब्रह्म जीव में रहता है।

स्वस्माद् विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मन्येकीभूतात्यन्त-सूक्ष्मचिदचिद् वस्तु शरीरादेकस्मादेवाद्वितीयान्निरतिशयानन्दात् सर्वज्ञात् सत्यसंकल्पाद् ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद् वस्तुशरीरतया बहुभवनसंकल्पपूर्वको जगदाकारेण परिणामः श्रूयते॥ (श्रीभाष्य वेदान्त १।४।२७)

अर्थात्—उस एक आनन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सत्य-संकल्प ब्रह्म से, जिसका अत्यन्त सूक्ष्म चित् और अचित् शरीर है, स्थूल चित् और अचित् शरीरवाला संसार बनता है। सत् ब्रह्म से सत् जगत् उत्पन्न होता है। कारण सत् अर्थात् कारण ब्रह्म में चित् और अचित् रहते हैं परन्तु उनमें विभाग-व्यपदेशानर्हता

रहती है, अर्थात् वे इस योग्य नहीं होते कि उसमें व्यक्तीकरण हो सके। वह व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। परन्तु कार्य ब्रह्म या कार्य सत् में चित् और अचित् व्यक्त होकर उनका नाम और रूप हो जाता है।

स्वयमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दैकस्वभावोऽत्यन्तसूक्ष्मतयाऽसत्कल्पः स्वलीलोपकरणचिदचिद्वस्तुशरीरतया तन्मयः परमात्मा विचित्रानन्तक्रीडनकोपादित्सया स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषसमष्टि-परम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणामय्य तन्मयः पुनः सत् त्यच्छन्दवाच्यविचित्रचिदचिन् मिश्रदेवादि-स्थावरान्तजगद्रूपोऽभवत् ॥ (वेदान्त श्रीभाष्य १।४।२७)

अर्थात्—ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, आनन्दस्वभाव है। चित् और अचित् उसका शरीर है। जब वह लीला करता है तो परिणामरूप से जड़ और चेतन जगत् बन जाता है।

इस प्रकार रामानुज स्वामी ब्रह्म और जीव में एकता न मानते हुए भी अद्वैत की सिद्धि करते हैं। चित्, अचित् और ब्रह्म, तीनों किस प्रकार सम्बद्ध हैं, यह बात अगले उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी—

(१) स्थूल सूक्ष्म चिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कार्य्यकारणमुपादानं जगत्।

(२) सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्मैव कारणमिति ब्रह्मोपादानत्वेपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरोप्युपपन्नतरः।

(३) यथा शुक्लरक्तकृष्णतन्तुसंघातोपादानत्वेपि चित्रपटस्य तत् तन्तुप्रदेशे एव शौक्ल्यादि सम्बन्धः इति कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र वर्णसंकरः।

(४) तथा चिदचिदीश्वर संघातोपादानत्वेपि जगतः कार्य्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृत्वाद्यसंकरः।

(५) तन्तूनां पृथक् स्थिति योग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित् संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च।

(६) **इह तु सर्वावस्थावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन चिदचितोस्लत् प्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्व शब्द वाच्य इति विशेषः। स्वभावभेदस्तदसंकरश्च तत्र चात्र च तुल्यः।**

(श्रीभाष्य १।१।१)

(१) जगत् का उपादान ब्रह्म है। कौन-सा ब्रह्म? वह ब्रह्म जिसका सूक्ष्म चित् और अचित् प्रकार कारण है और स्थूल चित् और अचित् प्रकार कार्य है।

(२) चित् और अचित् (चेतन और जड़) ब्रह्म का शरीर है। यह मिलकर जगत् का उपादान है। इन तीनों का संघात ही जगत् का कारण है (केवल ब्रह्म नहीं)। ऐसा होने पर भी जड़ और चेतन का स्वभाव ब्रह्म के स्वभाव से नहीं मिलता (असंकर)।

(३) इसके लिए दृष्टान्त देते हैं—सफेद, लाल और काले धागों से मिलकर चित्रपट बनाया। जहाँ-जहाँ धागे हैं वहीं-वहीं सफेदी, लाली और कालापन भी है। समस्त पट को सफेद, लाल या काला नहीं कह सकते।

(४) उसी प्रकार जड़ और चेतन और ईश्वर का संघात जगत् का उपादान है, इसलिये जब जगत् बन जाता है तब भी भोक्ता और भोग्य और नियन्ता के स्वभावों में मेल नहीं होता।

(५) धागे अलग थे। उनमें स्वयं न कारणत्व था न कार्यत्व। पट बनानेवाले पुरुष की इच्छा ने उनको मिला दिया। इसलिए उनसे कार्यरूपी पट बन गया और वे कारण कहलाए। इसलिए उन धागों में कारणत्व और कार्यत्व की योग्यता पुरुष ने दी।

(६) इसी प्रकार जड़ और जीव परम पुरुष के प्रकार हैं। जड़ और जीव भले ही प्रकारवाले हैं, पर 'सर्व' शब्द

का प्रयोग परमपुरुष के लिए ही होता है। यह विशेष है।

(७) धागों के दृष्टान्त, और जड़ तथा चेतन के दार्ष्टान्ति, दोनों में ही स्वभाव-भेद बना रहता है। उनमें संकरता या मेल नहीं होता।

जो बात साधारणतया समझ में नहीं आ सकती थी, उसे धागों के दार्ष्टान्त ने स्पष्ट कर दिया। रामानुज स्वामी का तात्पर्य यह है कि कारण-अवस्था में भी चित् और अचित् ब्रह्म का शरीर है, और कार्य-अवस्था में भी। जगत् का कारण केवल परमपुरुष नहीं, किन्तु चित् और अचित् और परमपुरुष मिलकर हैं। इसी को 'सर्व' या 'सब' कहते हैं। जिस प्रकार काले, पीले और लाल धागे अपना स्वभाव कपड़े के केवल उन्हीं भागों को देते हैं जहाँ वे हैं, कुल कपड़ा काला, पीला या लाल नहीं होता, इसी प्रकार चित् और अचित् और ब्रह्म के संघात से बनी हुई सृष्टि में जड़ता और चेतनता आदि अलग-अलग पाए जाते हैं।

परन्तु इस दृष्टान्त ने जहाँ रामानुज स्वामी के मन्तव्य को स्पष्ट किया, वहाँ उलझन को और उलझा दिया। वस्तुतः 'प्रकार' शब्द का अर्थ हमारी समझ में नहीं आया। जीव को ब्रह्म का शरीर कहने से तात्पर्य ? क्या यह आलंकारिक भाषा है या तात्त्विक ? क्या जिस प्रकार मेरा अपना शरीर है जिसके लिए गौतम ने न्यायदर्शन में कहा है कि—**चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।** (न्या० १।१।११) उसी अर्थ में 'मैं' भी ईश्वर का शरीर हूँ ? या केवल व्याप्य-व्यापक अर्थ में ?

यदि वास्तविक अर्थ में 'जीव' ब्रह्म का शरीर है तो उससे दोष आएगा और जीव का कर्तृत्व और चेतनत्व भी नष्ट हो जाएगा, क्योंकि स्वतन्त्र क्रिया तथा निर्वचन-अधिकार होने के कारण ही शरीर में जीव मानने की आवश्यकता पड़ी। यदि व्याप्य-व्यापक-अर्थमात्र में 'शरीर' का प्रयोग हुआ है तो ठीक है, परन्तु 'प्रकार' (Mode) शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता।

अब ज़रा संकर-भाव पर विचार कीजिये। श्री रामानुज स्वामी कहते हैं कि जड़ और जीव ब्रह्म के प्रकार तो हैं, परन्तु स्वभावों में संकरता नहीं होती। क्यों? 'गाय' पशु का प्रकारमात्र है, क्योंकि गोत्व में पशुत्व पाया जाता है। गोत्व और पशुत्व में संकरता नहीं है। यदि स्वभाव भिन्न-भिन्न रहेंगे तो जीव को ब्रह्म का प्रकारमात्र मानना कभी ठीक नहीं। श्री रामानुजाचार्य जी ने द्वैतवाद का खण्डन किया है, जबकि बिना द्वैतवाद के यह उलझन सुलझती नहीं। केवल शब्दों से काम नहीं चलता।

इसी के सम्बन्ध में एक और बात पर कुछ प्रकाश पड़ना चाहिये। सर्वसाधारण में यह बात प्रचलित है कि जीव ईश्वर का अंश है। वेदान्तदर्शन में भी इसका उल्लेख आया है—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके। (वेदान्त २।३।४३)

इस 'अंश' के अर्थ पर विचार करना है।

श्री शंकराचार्य जी कहते हैं—

अंश इवांश, नहि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति।

अर्थात्—यहाँ 'अंश' का तात्पर्य है 'अंश के समान' क्योंकि जो चीज़ अवयवरहित है उसके अंश नहीं हो सकते।

श्री रामानुज स्वामी लिखते हैं—

नानात्वव्यपदेशात्। अन्यथा च। एकत्वेन व्यपदेशात्।

अर्थात्—ब्रह्म और जीव में समानता भी है और भेद भी है।

अपि दाशकितवादित्वधीयत एके। ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवः। (आथ० अ० सूक्त) **इत्याथर्वणिका ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमप्यधीयते। ततश्च सर्वजीव व्यापित्वेनाभेदो व्यापदिश्यत इत्यर्थ।**

अर्थात्—दाश (कहार) और कितव (जुआरियों) को भी 'ब्रह्म' कहकर पुकारा है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म जीवों में व्यापक है, इसलिए जीव को ब्रह्म का अंश कहा है।

तात्पर्य यह है कि जीव ब्रह्म का उस अर्थ में अंश नहीं है जिस अर्थ में लोग लिया करते हैं। प्राय: 'अंश' शब्द के इस प्रयोग में

बहुत-कुछ भ्रम फैला हुआ है, इसीलिए व्यास जी को इस सम्बन्ध में एक सूत्र बनाना पड़ा।

कुछ लोग समझते हैं कि जो सम्बन्ध समुद्र का बिन्दु से है, वही ब्रह्म का जीव से है। परन्तु समुद्र का जल बिन्दुओं का समूहमात्र है।

जीवों के समूह को ब्रह्म नहीं कहते। इसलिए यह उपमा भी पूरी नहीं घटती, केवल महत्त्व और लघुत्व दर्शाने के लिए ऐसा कहा जा सकता है, अर्थात् ब्रह्म समुद्र के समान महान् है और जीव बिन्दु के समान छोटा है।

एक बात तो स्पष्ट है और वह यह कि जीव बहुत-से हैं और अल्पज्ञ हैं और असंख्य होने से भिन्न-भिन्न भी हैं। इस भिन्नता को दूर करने के लिए शंकर स्वामी ने माया का सिद्धान्त निकाला। इसी के लिए रामानुज स्वामी ने 'प्रकार' शब्द का आविष्कार किया। परन्तु भिन्नता की व्याख्या इन दोनों प्रकारों से नहीं होती। इसलिए मानना पड़ता है कि जहाँ ब्रह्म की व्यापक सत्ता है वहाँ जीवों की व्याप्य सत्ता भी है। जीव की अलग सत्ता मानने से यह तात्पर्य नहीं कि जीव किसी अन्य स्थान में है और ब्रह्म अन्य स्थान में, या इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है, या इन दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। ब्रह्म और जीव में भेद भी है और अभेद भी, इतना सभी को मानना पड़ता है। प्रश्न यह है कि भेद किस अपेक्षा से और अभेद किस अपेक्षा से? सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद माना नहीं जा सकता। यदि मायोपहित ब्रह्म का नाम जीव माना जाय, तो भी कुछ-न-कुछ भेद हो गया। यदि जीव को ब्रह्म का 'प्रकार' माना गया तो भी भेद हो गया, क्योंकि प्रकार और प्रकारी एक नहीं। इसलिए 'भेद' और 'अभेद' शब्दों को लेकर जो संप्रदाय स्थापित हुए हैं उनसे कुछ सत्यता का पता नहीं चलता। श्री निम्बार्क स्वामी ने 'भेदाभेद' या 'द्वैताद्वैत सिद्धान्त' स्थापित किया है। महन्त श्री स्वामी सन्तदास जी व्रजविदेही ने अभी उनके वेदान्त-भाष्य का अनुवाद निकाला है। वह भूमिका में कहते हैं—

'भेदाभेद' सिद्धान्त यह है कि 'दृश्यमान जगत् और जीव दोनों ही मूलतः 'ब्रह्म' हैं, किन्तु जगत् और जीव ही तक उसकी सत्ता पर्याप्त नहीं है, अपितु इन दोनों को अतिक्रमण करके भी उसकी सत्ता है। यह अतीत स्वरूप ही जगत् का मूल है, उपादान कारण है; जीव ब्रह्म के अंशमात्र हैं।'

यदि इस उद्धरण के वाक्यों को अलग-अलग करके इसके भाव का विश्लेषण किया जाय तो अर्थ स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो जीव को 'मूलतः ब्रह्म' कहने का क्या अर्थ ? क्या ब्रह्म से जीव बनता है जैसे मूल से वृक्ष निकलता है ? क्या जीव पहले न था और फिर बन गया ? फिर इस वाक्य का क्या अर्थ कि 'उसकी सत्ता' जीव तक ही 'पर्याप्त नहीं है' ? जब हम कहते हैं कि ब्रह्म की सत्ता जीव तक भी है और उससे परे भी है, तो इसका तात्पर्य क्या है ? यही न कि ब्रह्म जीव भी है और उससे अधिक भी कुछ ? ऐसी दशा में जीव के दोषों से ब्रह्म कैसे बच सकेगा ?

ये झमेले क्यों हैं ? केवल इसलिए कि स्पष्टसिद्ध द्वैत को किसी प्रकार अद्वैत सिद्ध कर दिया जाय। यह अद्वैत सिद्ध तो होता नहीं। हाँ, विचित्र-विचित्र शब्द-योजना द्वारा इसको आरोपित करने की चेष्टा अवश्य की जाती है। हमको अद्वैत से घृणा नहीं। परन्तु दो अलग-अलग सत्ताओं को एक मानने से क्या लाभ ? एक अर्थ में अद्वैतवाद ठीक ही है अर्थात् ब्रह्म एक ही है, दो नहीं है। यदि इसी को 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त कहो तो कुछ हानि नहीं। परन्तु ऐसा 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त तो सब चीज़ों पर लागू हो सकता है। इससे लाभ ही क्या ?

श्री रामानुजाचार्य ने जीवों के बहुत्व का खण्डन इन शब्दों में किया--

(१) **द्वैतवादिनपि बद्धमुक्तव्यवस्था दुरुपपादा।**

(२) **अतीताना कल्पानामान्त्यात् एकैकस्मिन् कल्प एकैक-मुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसम्भवादमुक्तानुपत्तेः।**

(३) अनन्तत्वादात्मनाममुक्ताश्च सन्तीति चेत्। किमिद-
मनन्तत्वम्।

(४) असंख्येयत्वमिति चेन्न। भूयस्त्वादल्पज्ञैरसंख्येयत्वे-
श्वरस्य सर्वज्ञस्य संख्येया एव।

(५) तस्याप्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात्।

(६) आत्मनां निःसंख्येवत्वादीश्वरस्याविद्यमानसंख्या
वेदनाभावदो नासार्वज्ञ्य मावहतीति चेन्न। भिन्नत्वे
संख्याविधुरत्वं नोपपद्यते।

(७) आत्मनः संख्यावन्तो भिन्नत्वान् माष-सर्षप-घट-
पटादिवत्।

(८) भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवज्जडत्वमनात्मत्वं च
प्रसज्यते।

(९) ब्रह्मणश्चनन्तत्वं न स्यात्। अनन्त्वं नाम परिच्छेद-
रहितत्वम्।

(१०) भेदवादे च वस्त्वन्तराद् विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः
परिच्छेदरहितत्वं न शक्यते वक्तुम्।

(११) वस्त्वन्तरभाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः।

(१२) वस्तुतः परिच्छिन्नस्य देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं
न युज्यते।

(१३) वस्त्वन्तराद् विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव हि
घटादयो देशतः कालतश्च परिच्छिन्ना दृष्टाः।

(१४) तथा सर्वे चेतना ब्रह्म च वस्तुतः परिच्छिन्नः देश-
कालाभ्यापि परिच्छिद्यन्ते। (श्रीभाष्य २।१।१५)

(१) द्वैतवाद में बद्ध-मुक्त-अवस्था नहीं बनती।

(२) क्योंकि बीते हुए कल्प तो अनन्त हैं। एक-एक कल्प में
एक-एक की मुक्ति भी होगी तो कोई अमुक बचेगा ही
नहीं, क्योंकि मुक्ति तो सबकी हो सकती है।

(३) अगर कहो कि आत्मा अनन्त हैं इसलिए अमुक्त रहेंगे
ही, तो प्रश्न होता है कि अनन्तत्व का अर्थ क्या ?

(४) अगर कहो कि अनन्त का अर्थ है असंख्यत्व, अर्थात् गिनती में नहीं आते, तो चाहे अल्पज्ञ लोग गिन न सकें, सर्वज्ञ ईश्वर अवश्य ही गिन लेगा।

(५) यदि ईश्वर भी नहीं गिन सकता तो सर्वज्ञ कैसा?

(६) अगर कहो कि आत्मा असंख्य हैं। ईश्वर उनको असंख्य ही जानता है। जो चीज़ जैसी हो उसको वैसा ही जानना सर्वज्ञ होने में कुछ विघ्न नहीं डालता, तो भी नहीं बनता; क्योंकि जो चीज़ें भिन्न-भिन्न हैं वे असंख्य नहीं हो सकतीं।

(७) यदि असंख्य आत्मा उसी प्रकार हों जैसे उड़द, सरसों या घड़ा या कपड़े होते हैं।

(८) तो आत्माओं के भिन्न होने के कारण घड़े आदि के समान आत्मा भी जड़ और क्षय को प्राप्त हो जावेगा।

(९) ब्रह्म भी अनन्त न रहेगा। क्योंकि अनन्तत्व का अर्थ है कि न होगा।

(१०) भेदवाद में ब्रह्म दूसरी वस्तुओं से विलक्षण हुआ तो उसमें परिच्छेद अवश्य होगा।

(११) परिच्छेद का अर्थ ही यह है कि दूसरी वस्तु भी हो।

(१२) जो वस्तुत: परिच्छिन्न है वह देश और काल की अपेक्षा से भी परिच्छिन्न ही रहेगा।

(१३) घड़े आदि वस्तुत: परिच्छिन्न होने से ही देश और काल से भी परिच्छिन्न होते हैं।

(१४) इसी प्रकार सब चेतन और ब्रह्म भी वस्तुत: परिच्छिन्न होने से देश और काल की अपेक्षा से भी परिच्छिन्न होंगे।

रामानुज स्वामी ने यहाँ कई बातें पहले कल्पित करके ही खण्डन किया है। जैसे, सब मुक्त हो जायँ तो अमुक्त कौन रहे? हम 'पुनरावर्त्तन' नामक अध्याय में दिखा चुके हैं कि मुक्ति की अवधि होती है, और उसके पश्चात् मुक्त जीव भी लौटते हैं।

दूसरी बात यह कि जो चीजें भिन्न हैं वे असंख्य नहीं हो सकतीं, यह भी कल्पनामात्र है। इसके लिए कोई प्रमाण नहीं। यहाँ 'असंख्य' और 'अनन्त' शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों ने मिलकर गड़बड़ कर दी है। अनन्त शब्द कई अर्थों में आता है। कहीं-कहीं 'असंख्य' को भी 'अनन्त' कहते हैं। देश की अपेक्षा से जिसका अन्त न हो वह भी अनन्त कहलाता है, किन्तु ऐसे को असंख्य नहीं कह सकते। 'असंख्यत्व' और 'भिन्नत्व' में परस्पर विरोध नहीं।

यह कहना भी ठीक नहीं कि जो चीजें घड़े आदि के समान भिन्न-भिन्न हैं वे नाशवान् भी हैं। एक बात में समानता होने से सबमें समानता कैसे हो सकती है?

न यह कहना ठीक है कि दूसरी चीजों की सत्तामात्र से ब्रह्म परिच्छिन्न हो जायेगा, क्योंकि ब्रह्म व्यापक है। वेद में ब्रह्म को आकाश से उपमा दी गई है। आकाश दूसरी चीजों में व्यापक है। वे परिच्छिन्न हैं। परन्तु उनके परिच्छिन्न होने से आकाश परिच्छिन्न नहीं हो जाता। यदि वे परिच्छिन्न न होतीं तो आकाश कैसे व्यापक होता? श्री रामानुजाचार्य जीव और ब्रह्म में संकरता नहीं मानते। इसलिए यदि यह आक्षेप द्वैतवादियों पर लागू होता है तो उनपर भी उतना ही लागू होता है।

अब एक प्रश्न रहता है—यदि जीवों की ब्रह्म से अलग सत्ता है तो इनमें सम्बन्ध क्या है?

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि देश और काल की अपेक्षा ब्रह्म और जीव में भेद नहीं। परन्तु जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ। जीव भोक्ता है और ब्रह्म भोक्ता नहीं। जीव और ब्रह्म में एक विचित्र आकर्षण शक्ति है। ब्रह्म जीव पर दया करता है और जीव बिना ब्रह्म के आनन्दित नहीं हो सकता। इसलिए जीव में आन्तरिक प्रवृत्ति होती है कि वह ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उत्सुक हो। यह प्रवृत्ति उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति है। इसकी प्रेरणा से सान्त जीव अनन्त ब्रह्म की ओर दौड़ता है और इसी दौड़ में उसे आनन्द मिलता है। छान्दोग्य उपनिषत् में कहा है—

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति। (छान्दोग्य ७।२३।१)

अर्थात्—अनन्त में सुख है, अल्प में सुख नहीं।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को वेदों में अनेक उपमाओं से दिखाया गया है, जैसे—

(१) **स नः पितेव सूनवे।** (ऋ० १।१।६)

वह हमारे लिए उसी प्रकार दयालु है जैसे पुत्र के लिए पिता।

(२) **तमित् सखित्व ईमहे।** (ऋ० १।१०।६)

हम सखापन के लिए ईश्वर से प्रार्थी हैं।

(३) **त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता।** (ऋ० ८।९८।११)

हे प्रभो! तुम हमारे पिता भी हो और माता भी।

(४) **इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥**

(ऋ० ७।३२।२६)

हे ईश्वर! हमारे कामों को भरपूर कर, जैसे पिता पुत्रों को करता है। हे उपास्य देव! हमारे इस मार्ग में हमको शिक्षा दे कि हम प्रकाश को प्राप्त हों।

(५) **स नो बन्धुः।** (यजुर्वेद ३२।१०)

वह हमारा सम्बन्धी है।

(६) **एक इत् राजा।** (यजुर्वेद २३।३)

वही हमारा राजा है।

परन्तु ये सब उपमाएँ एकांगी होती हैं। इनसे भी सूक्ष्म सम्बन्ध दिखाने के लिए एक वेदमन्त्र है—

त्वमस्माकं तव स्मसि। (ऋ० ८।९२।३२)

तू हमारा और हम तेरे हैं।

यही सम्बन्ध की पराकाष्ठा है। यहाँ सब उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं। इससे अधिक क्या कहना चाहिये, समझ में नहीं आता।

□□□

आचार्य भगवानदेव 'चैतन्य' कृत पुस्तकें

वैदिक प्रवक्ता के रूप में मानव मूल्यों की स्थापना हेतु कई वर्षों से निरन्तर संलग्न आचार्य भगवानदेव 'चैतन्य' द्वारा रचित सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत आध्यात्मिक पुस्तकें—

श्रीमद्भगवद्गीता : १००१ प्रश्नोत्तर
ईश्वर प्रणिधान : क्यों और कैसे ?
तप का वास्तविक स्वरूप
श्रीकृष्ण भक्ति रहस्य
सत्संग : साक्षात् कल्पतरु है
मुमुक्षुत्व का महत्त्व
पूर्ण व्यक्तित्व का आधार : १६ संस्कार
मनुष्यता के आठ सूत्र
चतुर्दिक उन्नति का आधार : स्वाध्याय
गुरु और उसका महत्त्व

श्री कृष्ण चोपड़ा कृत पुस्तकें

बत्तीस रंगीन चित्रों से सुसज्जित एक मनमोहक प्रस्तुति। इस पुस्तक से बालकों-युवकों को गुरु विरजानन्द के जीवन-प्रसंग की कई महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलेंगी।

गुरु विरजानन्द दण्डी : एक प्रेरणात्मक जीवन चरित

An Inspirational Life History of Guru Virjanand Dandi

लाला लाजपतराय कृत साहित्य (सम्पादक : डॉ० भवानीलाल भारतीय)

लाला लाजपतराय एक महान् स्वतन्त्रता सेनानी, निर्भीक राष्ट्रनेता तथा त्याग एवं बलिदान की प्रतिमा तुल्य महापुरुष ही नहीं थे, लेखनी के धनी एक सफल लेखक एवं साहित्यकार भी थे। स्वदेशी और देशीय महापुरुषों के जीवन-चरित लेखन का उनका कार्य महत्त्वपूर्ण है, उनमें से निम्न प्रस्तुत हैं—

१. *इटली के महात्मा ग्वीसेप मेज़िनी का जीवन-चरित*
२. *इटली के महान् देशभक्त गैरी बाल्डी का जीवन-चरित*
३. *छत्रपति शिवाजी का जीवन-चरित*
४. *मुनिवर गुरुदत्त विद्यार्थी (जीवन-चरित)*
५. *योगिराज श्रीकृष्ण (महाभारत पर आधारित जीवन-चरित)*
६. *युग-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द*
७. *आर्यसमाज*
८. *दु:खी भारत (दो खण्डों में)*
९. *युवा भारत*
१०. *मेरी आत्मकथा*